UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180272

UNIVERSAL
LIBRARY

कविता प्रकाशन
प्रयाग

अंक एक
उन्नीस सौ चौवन

•

'नयी कविता' साहित्यकारों का
सहकारी प्रयास है।

•

इसका प्रकाशन वर्ष में
दो बार होगा।

•

इसमें प्रकाशित किसी भी कविता को समीक्षात्मक
उद्धरण के अतिरिक्त अन्य किसी रूप में उद्धृत तथा
प्रकाशित करने के पूर्व लेखक की अनुमति
प्राप्त कर लेना आवश्यक है।

•

सम्पादकीय पत्र-व्यवहार का पता :
डॉ० जगदीश गुप्त, मोतीमहल, दारागंज, इलाहाबाद।

•

वितरक तथा व्यवस्थापक

राजकमल
प्रकाशन

१, फ़ैज़ बाज़ार, दिल्ली

क्लासिकल अथवा प्राचीन काव्य में हमें शाश्वत तथा उदात्त के प्रति एक गम्भीर आकर्षण, चिरंतन मान्यताओं के प्रति अटल विश्वास, तथा सार्वलौकिकता के प्रति एक असंदिग्ध आग्रह मिलता है। उसमें एक ओर चरित्र की महत्ता तथा व्यापकता और दूसरी ओर वस्तुदृष्टि का स्थायित्व दृष्टिगोचर होता है। छायावाद में (जिससे एक प्रकार से नयी कविता प्रारम्भ होती है) शाश्वत तथा उदात्त का स्थान रहस्य ने ले लिया। वस्तुजगत् का स्थान भावजगत् ने और सार्वलौकिकता का स्थान वैयक्तिकता ने ग्रहण कर लिया। उसने वास्तविकता से आँखमिचौनी खेलकर स्वप्न तथा आशा की सृष्टि की, एवं कल्पना का सौन्दर्य-पट बुना। प्राचीन काव्य में भाव और वस्तुजगत् में एक तादात्म्य अथवा संतुलन मिलता है। छायावाद ने वस्तुजगत् को अपनी भावना की तूली से रँग दिया।

नयी कविता ने मानव-भावना को छायावादी सौन्दर्य के धड़कते हुए पलने से बलपूर्वक उठाकर उसे जीवन-समुद्र की उत्ताल लहरों में पेंग भरने को छोड़ दिया है; जहाँ वह साहस के साथ सुख-दुःख, आशा-निराशा के घात-प्रतिघातों में बढ़ती हुई युग-जीवन के आँधी-तूफ़ानों का सामना कर सके, अन्तर्वेदना से मुक्त होकर सामाजिक व्यथा के अनुभवों से परिपक्व बन सके। नयी कविता विश्व वर्चस्व से प्रेरणा ग्रहण करके तथा आज के प्रत्येक पल बदलते हुए युग-पट को अपने मुक्त छन्दों के संकेतों की तीव्र-मन्द गति-लय में अभिव्यक्त कर, युग-मानव के लिए नवीन भाव-भूमि प्रस्तुत कर रही है।

नयी कविता अपनी शैली तथा रूप-विधान में जहाँ अधिक मौलिक, वैचित्र्यपूर्ण तथा वैयक्तिक हो गई है, वहाँ अपनी भावना में अधिक रागात्मक तथा मानववादी बन गई है। उसके भावजगत् में अचेतन-अवचेतन के भी अनेक स्तर मिलते हैं, जहाँ उसकी अभिव्यंजना अतिवैयक्तिक बन जाती है। वैसे अपने सशक्त क्षणों में वह छायावादी स्वप्नों के कुहासे को हटाकर नवीन वास्तविकता के मुख को पहचानने का प्रयत्न कर रही है। वह ऊर्ध्व तथा सूक्ष्म के रहस्य-भरे शिखर से उतरकर अधिक व्यापक यथार्थ की भूमि में पदार्पण करना चाहती है। उस भूमि में अभी भूकम्प है, उसकी वास्तविकता बदल रही है। किन्तु वह कुरूप, घृणित, कुत्सित से विचलित न होकर इस संघर्ष में उलझे हुए अंधकार की वेणी ही में अपने नवीन रागात्मक सौन्दर्य का फूल खोंसना चाहती है। नयी कविता का प्रेरणा-स्रोत क्या है, वह किस लक्ष्य की ओर बढ़ रही है, वह युग की रागात्मिका प्रवृत्ति में किस प्रकार का संतुलन स्थापित करना चाहती है, हिन्दी-कविता को वह वस्तुविषय तथा शैली की दृष्टि से कौन-सी नवीन दिशा प्रदान कर रही है, युग-चेतना को वह किन नये मोड़ों तथा पगडण्डियों के आगे ले जा रही है—इस सबका ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमारे तरुण कलाकारों की कृतियों का अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है—हमारे नवीन कलाकार जो आज अधिक संवेदनशील, ग्रहणशील, युगप्रबुद्ध तथा काव्य-चेतन हैं।

जगदीश गुप्त

नयी कविता : नयी अभिरुचि

साहित्य और कला के क्षेत्र में समस्त सर्जन व्यक्तिगत प्रयत्न से ही प्रतिफलित होता है, किन्तु किसी भी नवीन मौलिक रचनात्मक प्रयत्न का उद्देश्य मूलतः नितान्त निरपेक्ष एवं सीमित आत्मतोष ही नहीं होता—नहीं हो सकता। हर रचनात्मक प्रयत्न के पीछे आत्माभिव्यक्ति के साथ आत्मविस्तार की भावना भी निहित रहती है, जो अन्यसापेक्ष है। अभिव्यक्ति से उपलब्ध तोष अनुभूति से 'मुक्ति' का तोष है और विस्तार की भावना से अर्जित तोष 'प्राप्ति' का द्योतक है; अतः दोनों में सूक्ष्म भेद है। यह दूसरी बात है कि अन्ततः हर तोष आत्मतोष ही है, पर निरपेक्षता और सापेक्षता का अन्तर भुलाया नहीं जा सकता। 'अभिज्ञान शाकुन्तल' के प्रारम्भ में ही कालिदास ने इसकी ओर स्पष्ट संकेत किया है कि साहित्य और कला के क्षेत्र मे किया हुआ कोई 'प्रयोग' प्रयोक्ता के शिक्षित अथवा आत्मचेता होने पर भी पूर्ण परितोष के लिए एक विशिष्ट भावक-वर्ग की अपेक्षा रखता है :

आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।
बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः॥

उन सम्पूर्ण व्यक्तियों को, जो कविता से अपना सम्पर्क स्थापित करते हैं, भावक नहीं कहा जा सकता और न सभी भावकों को समान स्तर पर ग्रहण किया जा सकता है। रसिक और अरसिक के भेद की ओर प्राचीन काव्य-शास्त्रियों ने भी निर्देश किया है। अब प्रश्न यह है कि नयी कविता का भावक-वर्ग कौन-सा और कैसा है। हिन्दी-कविता को विकास की नई दिशाओं में ले जाने वाला कवि किस

विवेकशील प्रबुद्धचेता भावक को लक्ष्य करके अपनी बात कहता है या कहने का साहस करता है। निश्चय ही वह किसी भी कवि की तरह उनको लक्षित नहीं करता जो संवेदनशीलता से हीन, अरसिक तथा अक्षम होते हैं। यह अक्षमता अज्ञान का परिणाम भी हो सकती है और कवि की अभिव्यक्ति के उपादानों के समानान्तर चलने में असामर्थ्यजन्य भी हो सकती है। नया कवि उस रूढ़िवादी को भी अपना लक्ष्य नहीं बनाता जो हर प्राचीन के प्रति आकर्षण और हर नवीन के प्रति विकर्षण के भाव से परिचालित होता है। ऐसे व्यक्तियों में एक जड़ता निहित रहती है जो उनकी आन्तरिक अप्रगति की द्योतक होती है। इलियट ने काव्य रुचि के विकास की चर्चा करते हुए निर्भीकतापूर्वक इनका स्मरण किया है :

I dare say many people never advance; so that such taste for poetry as they retain in later life is only a sentimental memory of the pleasures of youth, and is probably entwined with all our other sentimental retrospective feelings.[१]

रूढ़िवादियों की तरह पूर्वाग्रही लोगों का भी एक वर्ग होता है जो कवि के द्वारा सदैव अपने ग़लत या सही अभीप्सित की पूर्ति चाहते हैं। किसी सामान्य उद्देश्य से ऊपर वे कविता की कोई सार्थकता ही स्वीकार नहीं करते। कवि के रूप में किये गए हर प्रयत्न को वे व्यर्थ और हीनतर तथा प्रचारक के रूप में किये गए हर प्रयास को सार्थक और श्रेष्ठतर समझते हैं। राजशेखर ने अपनी 'काव्य-मीमांसा' में ऐसे अपवादी 'निरंकुश' लोगों की ओर तीव्र कटाक्ष किया है।

कविता का आस्वादन कई सतहों पर हो सकता है—उसकी वस्तु, उसकी शैली, उसके स्वर-सामञ्जस्य अथवा अर्थ-संगति आदि किसी अंश विशेष को दृष्टि में रखकर। इस प्रकार आस्वादकों का एक स्तर ऐसा भी होता है जहाँ वे कविता को पूर्ण रूप में न पाकर केवल अंशग्राही बनकर रह जाते हैं। कुछ व्यक्ति ऐसे भावुक होते हैं कि अपनी तन्मयता में कविता का अर्थ बिना समझे उसके संगीत पर ही मुग्ध हो उठते हैं। नयी कविता कदाचित् ऐसे व्यक्तियों के लिए भी नहीं है। वह उन प्रबुद्ध विवेकशील आस्वादकों को लक्षित करके लिखी जा रही है जिनकी मानसिक अवस्था और बौद्धिक चेतना नये कवि के समान है अर्थात् जो उसके समानधर्मा हैं; एक ओर जो पुरानी कविता की अभिव्यंजना-प्रणालियों, शक्तियों और सीमाओं से परिचित है और जिनकी परितृप्ति परम्परागत वस्तु और

१. Selected Prose, Page 49

अभिव्यक्ति से नहीं होती या होती है तो सम्पूर्ण रूप में नहीं, दूसरी ओर जो नयी दिशाएँ खोजने में संलग्न नूतन प्रतिभा की क्षणिक असफलताओं और कठिनाइयों के प्रति सहानुभूतिशील होकर नये कवि की वास्तविक उपलब्धि की आशंसा करने में संकोच नहीं करते। प्राचीन अभाव और नवीन आविर्भाव के बीच विवेक करते हुए ऐसे ही व्यक्ति कविता के क्षेत्र में किये गए नवीन प्रयत्नों का सम्यक् मूल्यांकन कर सकते हैं। नये कवि के लक्ष्य वे भी होते है जो पूर्ण रूप में उसके समानधर्मा न होकर भी उसकी ईमानदारी पर सन्देह नहीं करते, फ़तवे नहीं देते। बहुत अंशों में नई कविता की प्रगति ऐसे प्रबुद्ध भावक-वर्ग पर आश्रित रहती है। भले ही यह वर्ग संख्या में कम हो, क्योंकि इसका महत्त्व संख्या से नहीं उस स्थिति से आँका जाता है जिस तक अनेक अनुभवों को संचित करता हुआ यह पहुँचा होता है। इसकी उपेक्षा किसी भी प्रकार नहीं की जा सकती। पाश्चात्य विवेचकों ने भी ऐसे एक वर्ग की स्थिति को और उसकी शक्ति को निर्भ्रान्त रूप से स्वीकार किया है :

Where the mind is still free, neither complacent nor shackled to the past nor servile to the discipline of the future, there will poetry flourish.[१]

कला-कृति पर अपना मत देने या रखने वाले उपर्युक्त विभिन्न वर्ग उसी तरह साहित्य-जगत् में एक-दूसरे के समानान्तर स्थित रहते हैं जिस प्रकार मानव-समाज में सभ्यता के विकास के विभिन्न स्तरों को व्यक्त करने वाले आदिवासियों से लेकर वर्तमान यान्त्रिक एवं वैज्ञानिक प्रगति से सम्पन्न जन समूह एक साथ रहते हैं। नई अभिरुचि के जन्म का अर्थ पुरानी अभिरुचि या अभिरुचियों का पूर्णतया नाश नहीं है। वह तो पुराने संस्कारों के बीच ही संघर्षशील होकर नवीन संस्कारों की संस्थापना और संवहन करती हुई अपना मार्ग प्रशस्त करती चलती है।

---

१. New Anthology of Modern Poetry (Introduction), Page XLII

विजयदेव नारायण साही | श्री लक्ष्मीकांत वर्मा

परिचय

नयी कविता के पक्ष में—और विरुद्ध भी—जो कुछ अब तक कहा गया है, श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा की कविताएँ, उसमें से अधिकतर का उदाहरण प्रस्तुत करती-सी जान पड़ती हैं। शायद अन्य कवियों से अधिक वेग के साथ—कम-से-कम औरों से अधिक असंकोची होकर ही—उन्होंने भावनाओं के एक सर्वथा नये सामञ्जस्य को ढूँढने का प्रयास किया है।

यह कोई नई बात नहीं है कि कवि अपनी भावनाओं और परिवेश के बीच एक संघर्ष का अनुभव करे। सदा से ही कविता का स्रोत इसी संघर्ष में निहित रहा है। लेकिन पुराने कवि के साथ एक आसानी थी : वह अपनी इच्छा या कल्पना के अनुसार दो में से एक की यथार्थता से इन्कार कर सकता था। एक प्रकार की मानसिक एकाग्रता उसे मिल जाती थी और काव्यमय कविता—गीतों या प्रबन्धों के रूप में सम्भव हो पाती थी। आज के कवि को एक ही साथ दो बिन्दुओं पर खड़ा होकर देखने की चेष्टा करनी पड़ती है। भावनाओं के आगे परिवेश को गौण मानने की परिणति उसने पलायनवाद और रोमाण्टिक कैशोर्य में देखी है। परिवेश के आगे भावनाओं को निछावर कर देने वाला फ़ासिस्ट तानाशाही स्वरूप भी उसके अनुभव का भाग बन चुका है। अतः कलात्मक रूप से एक साथ दो दृष्टि-बिन्दुओं का सन्तुलन कितना ही असंगत क्यों न लगे, यथार्थ का प्रस्तुतकर्ता होने के कारण, उसे सामञ्जस्य अथवा समानान्तरता के रूप में दोनों को स्वीकार करना ही पड़ेगा। अक्सर नये कवियों में यह दुहरी चेतना तीखे विद्रोह एवं व्यंग्य और

कहीं-कहीं विद्रूप एवं कुण्ठा में व्यक्त हुई है। श्री लक्ष्मीकान्त वर्मा की कविताओं का स्रोत भी यही है। बल्कि यों कहा जा सकता है कि अन्य नये कवियों की अपेक्षा वे दोनों बिन्दुओं में अधिक समान रूप से व्याप्त हैं। इस कारण टेकनीक और शिल्प में चाहे निखार न आया हो, परन्तु विद्रोह का विस्फोट और जीवन के व्यंग्य का अनुभव बड़ी प्रखरता के साथ हुआ है :

यह कलाकार का भूखा घर
उबली खिचड़ी
ठिठुरी दालें
यह फटे दूध-सा जर्जर मन

नंगे बच्चे
भूखी बीवी
साँस रोग-सी ग्रस्त त्रस्त, अंधी कोठरी,

कवि कलाकार, अतिशय भावुक
अतिशय उदार, अतिशय गतिमय
यह सोच रहा अपने मन में
यह सभी व्यङ्ग
यह राह तङ्ग !

पहला यथार्थ यह है कि जीवन अपनी दैनन्दिन गति में नीरस, अरुचि-पूर्ण, बल्कि भयावह है; इस विपण्णता के बीच कवि की नैसर्गिक भावुकता दूसरा यथार्थ है। एक समय था जब कवि एक की सार्थकता दूसरे से सिद्ध कर लेता था। आज ये दोनों विश्व एक साथ वर्तमान हैं, और उनके बीच की खाई पाटना सम्भव नहीं है। सुन्दर और बीभत्स—एक-दूसरे के पूरक, या प्रकाशक भी नहीं हैं—वे केवल एक-दूसरे पर कठोर व्यंग्य के रूप में हैं। जीवन की यह समस्या नये कवि को किस प्रकार विद्रोही बना देती है इसका अच्छा उदाहरण लक्ष्मीकान्त की 'कली की जड़ें' शीर्षक कविता में मिलता है। इसी मज़मून को उमर ख़ैयाम ने भी बाँधा है। एक साधारण तुलना से ही नये और पुराने का मौलिक अन्तर स्पष्ट हो जायगा :

कली की जड़ें

यह कौन है जो कली-कली में एक गुदाज़ पैदा कर रहा है।
यह कौन है जो शबनम के क़तरों में बेसाख़्ता मिटने की साध भर रहा है।
उधर देखो ! उसी कली की जड़ों को देखो
उसके नीचे एक कब्र है—
इतना भयानक सत्य
[एक लाश अपनी सड़ी-गली उँगलियों की पोर से
फूला हुआ शरीर फोड़ रही है
और कली हँस रही है]

उमर खैयाम की रूबाई का फ़िट्ज़ जेराल्ड-कृत अंग्रेजी अनुवाद यों है :

And this delightful herb whose tender green
Fledges the river lip on which we lean
Ah lean upon it lightly ! for who knows
From what once lovely Lip it springs unseen !

स्पष्ट है कि नये कवि को उमर खैयाम के विलासी दुःख का भी सन्तोष नहीं प्राप्त है। उसे तो गला घोंटने वाले जीवन के शिकञ्जे के विरुद्ध युद्ध भी करना है और अपनी गुदाज़ पैदा करने वाली कली को हँसाते भी रहना है।

इस व्यंग्य को लक्ष्मीकान्त ने [illegible]तक पीड़ा और निपट गम्भीरता के साथ ग्रहण किया है। जिस प्रचुरता और गति के साथ उन्होंने अब तक कविताएँ लिखी हैं उनसे उनके मन में प्रतिपल होने वाले भावनात्मक विस्फोट का पता चलता है : जिस तरह सूर्य में बराबर परमाणुओं का विस्फोट चलता रहकर प्रकाश का तारतम्य प्रस्तुत करता है। इस भीषण गति के कारण कविता के शिल्प का गौण—बल्कि अनावश्यक—हो जाना स्वाभाविक था। लेकिन शिल्प का विघटन इस सीमा तक पहुँचने पर भी, कविता, कविता बनी रह जाय, यह अवश्य आश्चर्य का विषय है। इसी अर्थ में लक्ष्मीकान्त नयी कविता का उदाहरण प्रस्तुत करते-से जान पड़ते हैं। क्योंकि उनकी कविताएँ—आभूषणहीन बल्कि परिधानहीन हैं—यूकेलिप्टस के वृक्ष की भाँति !

लक्ष्मीकान्त सटीक उक्ति, चुभती पदावली, तीखी उपमा के कवि नहीं हैं। सम्भवतः वे उत्तेजक आशय के भी कवि नहीं हैं। उनकी सारी कविता-प्रणाली में एक अजब-सा खुरदरापन, अनगढ़पन व्याकृति—परिव्याप्त है। यह जान-बूझकर उतारा

हुआ खुरदरापन नहीं है। इसकी स्वाभाविक उत्पत्ति उनके कवि-व्यक्तित्व से ही होती है। जिस भावभूमि को उन्होंने ग्रहण किया है उससे उनकी शैली का ऐसा स्वाभाविक सामञ्जस्य है कि एक को अंगीकार करने पर दूसरा उसकी अनिवार्य परिणति के रूप में अंगीकृत हो जाता है। सिर्फ़ इतनी ही प्रतिभा होने पर लक्ष्मीकान्त केवल काव्यात्मक सम्भावनाओं के कलाकार रह जाते। किन्तु उनकी प्रतिभा के बलशाली उपादान के रूप में उन्हें एक और विभूति मिली है जो इन कविताओं को एकता, सार्थकता, और प्रवेग से आलोकित कर देती है। संक्षेप में, अनगढ़ शब्द-जाल के बीच प्राण-प्रतिष्ठा कर देती है और पूरी कविता चमत्कार की भाँति आँखों के आगे कौंध जाती है। यह नये कवि का मात्र चौंकाने वाला कौशल नहीं है, जिसकी ओर आलोचकगण प्रायः संकेत करते हैं। लक्ष्मीकान्त के साथ उसका महत्त्व इससे कहीं अधिक है। वस्तुतः यह वही आधार है जिस पर खड़े होकर लक्ष्मीकान्त जीवन के अन्तर्विरोध का सामना करते हैं और समञ्जस्य की उपलब्धि करते हैं। चूँकि यह आधार अत्यन्त बारीक, और अप्रत्याशित किन्तु सत्य और संगत होता है, इसीलिए हमें चमत्कृत करता है। इतना तो निश्चित है कि इस कवि के साथ तलवार की धार सफलतापूर्वक पार कर जाने के बाद मूल्यवान मानसिक सन्तोष मिलता है।

प्राण-प्रतिष्ठा करने वाली वह विभूति है : बिम्बों की जीवन्त उर्वरता। हमें एक ऐसे कवि के दर्शन होते हैं जिसके मस्तिष्क में मूर्तिमान कल्पनाओं की एक जबर्दस्त भीड़ सागर की तरह लहरें ले रहा है। यह कहना कि लक्ष्मीकान्त के बिम्ब उनके आशयों के प्रतीक हैं, ग़लत होगा। वस्तुतः लक्ष्मीकान्त की विचार-धारा, कल्पना और अनुभूति सब-कुछ बिम्बों में ही होती है। इन बिम्बों को अनायास शब्दों में लिख डालना ही उनका कृतित्व है। फ़ॉर्म और कण्टेण्ट—रूप और विषय दोनों ही एक साथ आबद्ध उतरते हैं, और इसी कारण लक्ष्मीकान्त की कविता में वास्तविकता है, विशिष्टता है। जिस कारण लक्ष्मीकान्त के कवि व्यक्तित्व से हमें आशा बँधती है, वह यह है कि फ़ॉर्म, और कण्टेण्ट का यह सामञ्जस्य न उनके लिए 'मूड' है, और न परिपाटी। वह उनके व्यक्तित्व की सहज अभिव्यक्ति है।

फिर भी यह कहना भी आवश्यक है कि बिम्बों का यह प्रवाह, कहीं-कहीं असंयत हो जाता है और किनारे तोड़ने लगता है। फलस्वरूप एकता और सार्थकता को आघात पहुँचता है। चूँकि कविता का सारा रस और उसका प्राण इन बिम्बों में ही सीमित है, इसीलिए उनकी कलात्मक क्षति के उपरान्त रसिक पाठक

के लिए रसाभास के नाम पर भी कुछ न बचने की आशंका रहती है। इस संयम का आवाहन लक्ष्मीकान्त भविष्य में किस रूप में करते हैं : इस पर उनकी, और हिन्दी की नयी कविता के एक महत्त्वपूर्ण अंग की सफलता निर्भर है।

हस्ताक्षर

मैं आज भी ज़िन्दा हूँ
उस हस्ताक्षर की भाँति
जो मज़ाक़ मज़ाक में यों ही किसी वट वृक्ष के नीचे
पिकनिक, तफ़रीह, में लिख दिया गया था
एक तेज़ धार वाले फ़ौलाद की नोक
अब भी मेरी छाती में गड़ी है
और उस वट-वृक्ष का घायल सीना
उस दाग़ की रक्षा हर मौसम में करता है
छिली हुई पपड़ी पर छाल चढ़ जाती है,
दुधियारे पत्तों में बात बस जाती है,
जटाएँ भी झुकती हैं भूतल को छूती हैं
चरवाहे की वंशी की टेर भटक जाती है
मगर
एक मैं हूँ : फ़ौलाद की थाती लिये
जीता हूँ—
मैं आज भी ज़िन्दा हूँ !

एक स्थिति

इस ज़िन्दगी को क्या कहूँ
जो सर बसर बढ़ती रही
हर चटख़ती कली पर
विश्वास ही करती रही

एक छोटा दायरा संसार बनकर रह गया
क्या हुआ; क्या हो गया !

इतिहास और कीड़ा

एन्साइक्लोपेडिया के पन्नों में
(दबे हुए कीड़े के आकार प्रकार)
एक जिस्म कि जिसमें दिल नहीं
उस दिन अचानक पिस गया
एक खून का धब्बा नेपोलियन के मस्तक पर रह गया
हर कोई जो किताब खोलेगा
उस सुर्ख धब्बे से घबरायगा
मगर
यह सत्य है कि जिसने उस किताब को खोला
वह कोई फ़ौजी जेनरल नहीं था
और जो दबकर मर गया
वह हृदय-हीन कीड़ा था !

आईना

मैं देख रहा हूँ :
दूर·····
बहुत·····दूर
धूल में टायर की छाप-सी उभर—
एक गाढ़ी काली ज़ंजीर में
दो बादलों के टुकड़े फँस गये हैं
कोई हवा, कोई धूप, कोई इन्द्र धनुष
पुरवा पछुवा के मीड़ पर चाहे जितना नाचे
इनकी छाप में कोई अन्तर नहीं पड़ता

सच बताना
यह आकाश आईना तो नहीं है ?

बौनों की गठरी
(वर्षा-स्केच)

अनगिन बौनों की गठरी को
सिर पर लादे,
कन्धों पर बरसाती लम्बी
हाथों में बरसाती जूते
गाँठ गाँठ तक पेण्ट उठाये
कालर बाँधे,
बाँह सकेले,
बीच नाक पर उल्टी छतरी
की डंडी लटकाये
काली कमरी ओढ़
अंधेरी रातों इन गलियों में
कीचड़ का पेण्ट बाक्स ले
घूम रहा है
नहीं, नहीं—
पिछवाड़े से छत पर कूदा
फिसला, फिसला, फिसला····
भद्दा रूप वेश में सहसा
कौन कूद आया आँगन में····
नहीं अभी आया है छत पर
और किसी की बड़ी हेट से
अभी कूदकर कोई भागा है कमरों में
बरसाती की जेब खुल गई
स्काई लाईट के शीशे चटखे
कमरे में भी आकर कूदा

गठरी बाहर छूट रह गई
गठरी में से काले बौने
मुक्त हो गये,
दौड़, भाग··· टप···टप····टप
धम, धम, धम
चौंक गया मैं—शोर शराबा
आँखें खोलीं
देखा नभ पर घिर आये थे
काले बादल ।

चींटी, चारा और तीतर

खुल गये चींटियों के पपड़े वाले द्वार
चीनी के दाने छिटका—
चल दिये उधर मानव उदार !
तीतर वाले ने खोल दिये
तीले पिंजड़े के
हो रही किसी की क्षुधा शान्त !
(चारागर भी सोच न पाया
क्या हयात ? क्या मर्ज़)
मनुज मनुज का वर्ग
वह उदारता क्या जिसमें
मौत छिपी बेदर्द
(ये चारागर
मर्ज़ बढ़ाकर
आगे बढ़ते)
तीतर वाले
उड़ा गर्द खूराक ढूँढते
एक तमाशा
(वाह····वाह····वाह···· बेटा वाह !

एक चोट··· एक चोट और
युद्ध, क्रांति, संक्रान्ति
व्याप रहा है तिक्त)

आत्म-परिचय

लक्ष्मीकांत—
बाल बिखरे
गाल पिचके
निष्प्रभ···
·····क्लान्त
आदि से अन्त तक
केवल अतुक्रान्त
श्रीमान्
श्रीयुत····
श्री लक्ष्मीकांत
·····
·····
····कवि हो—?
छन्द नहीं लय नहीं—
केवल गति ·····
·····पैराशूट
··· ·····
मूर्ख हो यार
हवशी····अनाड़ी ···वज्र फूहड़
काव्य, कवि, कविता से अनभिज्ञ
एक झूठा-सा कलेवर
आद्योपान्त !
····· ·····

(जानते हो ताप क्या था ?
आदि कवि की भावना का
क्रौंच जब घायल गिरा था
काव्य के रस-स्निग्ध चरणों पर ?)
.....भूठे नब्बाज़
.....कलाबाज़—
रस्सी पर नाचने वाले नट हो—
.....नृत्यहीन

जानते हो—
परमाणुओं में नाद कितना
ज्योति कितनी
नृत्य कितना है अँधेरे में....
सौर चक्र-व्यूह में वह कौन-सा रव है
कि जिससे एक गति अविचल निरत है
..... क्रमबद्ध
.....संचित भावना से हीन
.....

तुम कलह
आक्रान्त स्वर संक्रान्त
वितरित कर रहे हो जर्म्स—
ओ संदिग्धता उद्भ्रान्त
श्रीमान्
श्री....श्री....श्री लक्ष्मीकान्त !

कमबख़्त हो जी
सड़क पर छकड़ा भरा है
कूड़ा-करकट लाद लो
पाट दो उस मच्छरों से भरे गड्ढे और खाई को—
कि जो उस जुही की कलिका के निकट है
मन्द सौरभ को मिटाने में सबल है

....यह क्रूर अत्याचार
.....व्यथा ? अनाचार

[हटाओ भी यार....
संसार में शिव ही शिव है
सत्य से भयभीत कोई मत नहीं है
सभी शिव है ...सदा शिव]
सामने होली खड़ी है
एक बोतल, एक प्याली
प्याज़ की पकौड़ी
इक्के-ताँगे वालों की गाली
.....मस्ती
....फ़ाक़ा मस्ती
.....पस्ती
सरस्ता में दस्ती पैग़ाम
सत्य शिव है
रे मतान्त—
शान्त....शान्त...चिर अशान्त
अस्त-व्यस्त—
जीवन की गठरी का भार
चिर अशान्त
चिर अशान्त
श्रीमान्....
श्रीयुत....
श्री...श्री....श्री लक्ष्मीकान्त !

क़मीज़ के बटन
बटन होल से बाहर जो
दाँत निकाले से पड़े हैं
उन्हें समेट लो
आस्तीन के कालर

कोट की सीमा से बाहर मत जाने दो
गाल पिचके,
बाल बिखरे,
फूल कर
तन कर—
बैठो न
कमर झुकी चिन्तित सा देख तुम्हें
देखने वाले देखेंगे
महज़ देखेंगे
हँसी ···मज़ाक ···ताने····व्यंग्य
अह····ह····ह····ह ···हा
···· ·····भयावह
·····भयंकर·····
·····मरणासन्न
·····अन्तर····क्या]

हुआ क्या ?
जो भी है देख लो
मैं नग्न हूँ····नग्न
गतिलीन·····
·····अति प्रच्छन्न
·····हृदय की धड़कन
और जीवन·····
····बारेसी है ग़रीब की
·····आँच नहीं
जल·····
जल रे जल
अविरल

नितान्त
श्रीमान्

श्रीमान्
श्रीमान्
श्री लक्ष्मीकान्त !
आदि से अन्त तक
केवल अतुकान्त
श्रीमान्, सर्वश्री
श्री लक्ष्मीकान्त

संचयन

अजित कुमार

कवियों का विद्रोह

'चाँदनी चन्दन सदृश' :
हम क्यों लिखें ?
मुख हमें कमलों सरीखे क्यों दिखें ?

हम लिखेंगे :
चाँदनी उस रुपये सी है कि जिसमें
चमक है पर खनक ग़ायब है।
हम कहेंगे ज़ोर से :
मुँह घर-अजायब है
[जहाँ पर बेतुके, अनमोल, ज़िन्दा और मुर्दा
भाव रहते हैं।]

तीन कविताएँ : अज्ञेय

१.

आज तुम शब्द न दो, न दो
कल भी मैं कहूँगा।
तुम पर्वत हो, अभ्रभेदी शिलाखण्डों के
गरिष्ठ पुञ्ज
चाँपे इस निर्झर को रहो, रहो :
तुम्हारे रन्ध्र-रन्ध्र से
तुम्हीं को रस देता हुआ
फूट कर? मैं बहूँगा।
तुम्हीं ने दिया यह स्पन्द
तुम्हीं ने धमनी में बाँधा है लहू का वेग
यह मैं अनुक्षण जानता हूँ।
गति जहाँ सब-कुछ है, तुम धृति पारमिता
जीवन के सहज छन्द :
तुम्हें पहचानता हूँ।
माँगो तुम चाहे जो : माँगोगे
दूँगा,
तुम दोगे जो मैं सहूँगा।
आज नहीं
कल सही
कल नहीं
युग-युग बाद ही :
मेरा तो नहीं है यह
चाहे वह मेरी असमर्थता से बँधा हो।
मेरा भाव-यन्त्र?
एक मचिया है सूखी घास-फूस की

उसमें छिपेगा नहीं औघड़ तुम्हारा दान—
साध्य नहीं मुझसे, किसी से चाहे सधा हो।
आज नहीं
कल सही
चाहूँ भी तो कब तक छाती में दबाये यह आग
मैं रहूँगा ?
आज तुम शब्द न दो, न दो
कल भी मैं कहूँगा !

२. काँगड़े की छोरियाँ

काँगड़े की छोरियाँ
कुछ भोरियाँ सब गोरियाँ
लाला जी, जेवर बनवा दो
खाली करो तिजोरियाँ
काँगड़े की छोरियाँ !

ज्वार-मका की क्यारियाँ
हरियाँ भरियाँ प्यारियाँ
धनखेतों में लहर हवा की
सुना रही है लोरियाँ
काँगड़े की छोरियाँ !

पुतलियाँ चंचल कालियाँ
कानों झुमके बालियाँ
हम चौड़े में खड़े लुट गये
बनी न हमसे चोरियाँ
काँगड़े की छोरियाँ !
काँगड़े की छोरियाँ
कुछ भोरियाँ सब गोरियाँ !

३. यह दीप

यह दीप अकेला स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता, पर
इसको भी ? पंक्ति को दे दो।
यह जन है : गाता गीत जिन्हें फिर और कौन गायेगा ?
पनडुब्बा : ये मोती सच्चे फिर कौन कृती लायेगा ?
यह समिधा : ऐसी आग हठीला बिरला सुलगायेगा।
यह अद्वितीय : यह मेरा : यह मैं स्वयं विसर्जित :
यह दीप, अकेला, स्नेह भरा,
है गर्व भरा ? मदमाता, पर
इसको भी ? पंक्ति को दे दो।

यह मधु है : स्वयं काल की मौना का युग-संचय
यह गोरस : जीवन-कामधेनु का अमृत-पूतपय
यह अंकुर : फोड़ धरा को रवि को तकता निर्भय
यह प्रकृत, स्वयम्भू, ब्रह्म, अयुत :
इसको भी ? शक्ति को दे दो।
यह दीप, अकेला, स्नेह भरा,
है गर्व भरा मदमाता, पर
इस को भी ? पंक्ति को दे दो।
यह वह विश्वास, नहीं जो अपनी लघुता में भी काँपा
वह पीड़ा, जिसकी गहराई को स्वयं उसी ने नापा
कुत्सा, अपमान, अवज्ञा के धुँधुआते कडुवे तम में
यह सदा-द्रवित, चिर-जागरूक, अनुरक्त-नेत्र,
उल्लम्ब-बाहु, यह चिर-अखंड अपनापा।
जिज्ञा, प्रबुद्ध, सदा श्रद्धामय
इसको ? भक्ति को दे दो :
यह दीप, अकेला, स्नेह भरा
है गर्व भरा
मदमाता, पर

इसको भी
पंक्ति को दे दो।

दो कविताएँ : कुँवरनारायण

१.

सहज चुम्बन, सहज आलिंगन,
सहज-सी भूल।
थके मुख पर इस सफ़र की धूल।

कौन समझेगा कि कैसे नर्क से
मिला मुझको ज्ञान,
ईश्वर, गीत, आत्माभिमान ? ···

वासना की घोर अन्धी तहों में
अनुभूतियों के सत्य
अपने में छिपाए वे अलौकिक तथ्य

जो ऐहिक सुखों के तीव्रतम क्षण में
समाहित हो अचानक
चौंक पड़ने किन्हीं सपनों से उझक !

हाय, छोटी-सी तलैया, बँधी गंदली,
क्या करे ? सागर ललकता
जब कि अपने चन्द्रमा को छू न सकता !

२. जाड़ों की एक दोपहर

दूब का अविरोध फैला क्षेत्र; बेतरतीब
वृक्षों की क्षितिज की मेड़ पर कुछ भीड़।

चुहलते पक्षियों की तोतली कविता,
पवन की लोरियों में ऊँघती सरिता।
बरसती दृष्टि के उस छोर तक अविराम
जाड़ों की उजागर गुनगुनी-सी घाम····
रुको ····प्रिय····
विश्रान्ति की इस अरौंदी छाया तले
भूल जाएँ कुछ क्षणों को हम हृदय के भार,
सभ्यता की परिष्कृति से दूर
आओ, हम बनें इस शान्ति के दो नए साझीदार।

केदारनाथ सिंह

तोड़ दो !

तोड़ दो अय चाँद—
मेरी चेतना की बाँह—
जो देखूँ तुम्हें !
मत करूँ मैं याद,
मत सोचूँ,
तुम उठे होगे चिनारों के घने वन से—
तनिक ऊपर कहीं,
ऊँघ से चौंके सफेदों ने सलामी ठोंक दी होगी,
आ गई होगी किसी लब पर—
बहुत भूली हुई-सी माहिया की धुन,
तुम दिखे होगे खड़े तट-नारियल के पंक्तियों—
पीछे कहीं,
धान खेतों ने हवा में सुर भरा होगा—
'आय गो, आय,

वेला जाय !'
धड़कनों से टूटता जाता समूचा वक्त,
रात—
जंगलों की सीटियों से भरा मेरा वक्ष,
खोखली बन्दूक से ठण्डे पड़े दो हाथ।
उधर पिछवाड़ तरफ—
उस पेड़ ने गाँठे बिछा दी हैं,
चाँद तेरा शुक्रिया !
मैं नहीं हूँ पटरियाँ—
तारीख की गाड़ियाँ जिससे चीखती जायें,
नहीं हूँ वह दर्द—
जो दो कूक का जीवन किसी की डाल जी आये,
दर्द हूँ तो—
साल के आखिरी दिन की साँझ का,
जो धार से ज्यादा नये की प्रार्थना है,
हर नया शुभ हो !
हर क्षण बने माथे पर धरा मंगल-तिलक,
अभी तो तोड़ दो, बस,
बाद में हम चाँदनी की फसल काटेंगे !

गिरिधर गोपाल

चाँदनी और कारवाँ

ध्यान मुझको तुम्हारा प्रिये
चाँद औ चाँदनी का मिलन देख आने लगा,
जिन्दगी का थका कारवाँ
सैकड़ों कण्ठ से प्यार के गीत, गाने लगा।

रात का बन्द नीलम किवाड़ा डुला,
लो क्षितिज-छोर पर देव-मन्दिर खुला,
हर नगर झिलमिला हर डगर को खिला
हर बटोही जिला ज्योति प्लावन चला;
कट गया शाप बीती विरह की अवधि,
ज्वार की सीढ़ियों पर खड़ा हो जलधि,
अंजली अश्रु भर-भर किसी यक्ष-सा,
प्यार के देवता पर चढ़ाने लगा।

आरती थाल ले नाचती हर लहर,
हर हवा बीन अपना बजाने लगी,
हर कली अंग अपना सजाने लगी,
हर अली आरसी में लजाने लगी;
हर दिशा तक भुजाएँ बढ़ाता हुआ,
हर जलद से सँदेसा पठाता हुआ,
विश्व का हर झरोखा दिया बाल कर,
पास अपने पिया को बुलाने लगा।

ज्योति की ओढ़नी के तले लो तिमिर
की युवा आज फिर साधना हो गयी,
स्नेह की बूँद में डूबकर प्राण की
वासना आज आराधना हो गयी;
आह री! यह सृजन की मधुर वेदना,
जन्म लेती हुई यह नयी चेतना,
नारि के जगमगाते जलज वक्ष पर
आदमी स्वप्न कल के बनाने लगा।

यह सफर का नहीं अंत, विश्राम रे,
दूर है दूर अपना बहुत धाम रे,
स्वप्न कितने अभी हैं अधूरे पड़े
जिन्दगी में अभी तो बहुत काम रे;
मुस्कराते चलो गुनगुनाते चलो
आफतों बीच मस्तक उठाते चलो,

भूमि को बाँह भर काल की राह पर
आसमाँ पाँव अपने बढ़ाने लगा।

जगदीश गुप्त

पहेली

तुम्हें जानें,
अगर इस बार बतला दो
हमारी मुट्ठियों में है छिपी क्या चीज़ ?
ऊँ हुँ ! क्यों बतायें हम,
छिपाने में पुरुष होते नहीं हैं कम
किसी से भी।
न बतलाओ नहीं मालूम है तो,
यों किसी को दोष देने से
मिलेगा क्या ?
मिलेगा क्या ?
यही तो पूछना था—
हाँ, सुनो ! यदि हम बता दें
तो मिलेगा क्या !
किसी के प्रश्न करने पर
नया-सा प्रश्न कर देना—
नहीं,
अच्छी नहीं यह बात;
पहले दो हमारे प्रश्न का उत्तर
हमारी मुट्ठियों में है छिपी क्या चीज़
बतलाओ।
बताऊँ ?

हाँ।

—मुझे झुठला रहे यूँ ही
न होगा कुछ
दिखादो खोलकर मुट्ठी
नहीं तो खुद बतादो ना—

बताऊँ ? सुन सकोगे ?
है छिपी इन मुट्ठियों के बीच में
मजबूरियाँ-लाचारियाँ-असमर्थताएँ,
एक हो जिसको बताएँ,
मुट्ठियाँ यह हैं बनी फ़ौलाद की
सब को समेटे
युग युगों से बन्द हैं अब तक
नहीं तो चटचटाकर टूट जाती उँगलियाँ—
सब दर्द छितराता
तुम्हें मालूम हो जाता
कि मैं सच कह रहा हूँ
कुछ हँसी की बात है इसमें नहीं—
जो है हक़ीक़त है—हँसो मत तुम
अगर अब भी न हो विश्वास
खिच आओ ज़रा इन मुट्ठियों के पास
सुन लो दर्द की आवाज
शायद है इन्हीं में जिन्दगी का राज़
रखना इसे बस तुम सिर्फ़ अपने तक।

किसी दिन काश खुल जातीं
कहीं यह मुट्ठियाँ मेरी
लगा मजबूरियों को आग
ले आता तुम्हें मैं खींच अपनी ज़िन्दगी के पास
श्वासों में उलझते श्वास।
तुमसे हो सके तो खोल दो यह मुट्ठियाँ मेरी

बढ़ाओ हाथ—उट्ठो—मत करो देरी,
मगर यह क्या—तुम्हारे भर गये लोचन
कमल कोमल उँगलियाँ मुड़ चलीं बेबस
अँगूठे भिच गये सहसा
तुम्हारी मुट्ठियाँ भी बाँध दीं आख़िर
इन्हीं मजबूरियों ने—बस
मुझे अब कुछ नहीं कहना,
कहूँ भी क्या
कि जब मजबूरियों के बीच ही रहना।

जनार्दन मुक्तिदूत

मणिरथ

उठ मार कुदाली धरती में।
उठ मार कुदाली परती में।

इस धरती के अन्दर जाने, कितने मणियों के रथ खोये ?
हो चुके अचल अश्वों के पग, जाने कब से सोये-सोये।
वे दिशा हीन सारथि विहीन, नतमस्तक अब तक खड़ हुए।
पहिये जिनके ले भार अतुल, धरती के अन्दर गढ़े हुए।
चाँदी के वे पहिये सारे, अश्वों की सोने की काया।
रथ का ढाँचा मुक्ता-माणिक, धरती में पड़ी विपुल माया।
है माया विपुला धरती में।
उठ मार कुदाली परती में।

भू-सुत ! इनका संचलन करो,
रथ को कारा से मुक्त करो।
इनकी बल्गा खींचो ऐसे—
मुड़ जायें स्वयं ही यह जैसे—

उस लम्बे पथ की ओर निडर जिस पर नंगी आधी दुनिया—
उस लम्बे पथ की ओर सहज जिस पर भूखी आधी दुनिया—
है माया विपुला धरती में—।
उठ मार कुदाली परती में।

दुष्यन्त कुमार

चित्र

सुबह हुई होने को
नीड़ों में पर फड़के
पंछी जागे
एक-एक कर लगे टूटने
किलबिल-किलबिल मनहूसी छा गई
दर्द टीसने लग गया
अलस्सवेरे बहुत मुलायम हाथ
चना पीसने लग गया।

देवराज

क्लर्क

सबेरे-साँझ चाय पीता है,
डालडा खा खुशी से जीता है;
कौन जाने शरीर में क्या है,
दिल है खाली, दिमाग़ रीता है!
कलम से मन से काम करता है,

यों ही हर दिन को शाम करता है;
है समझदार भी कि साहब को
बा-अदब झुक सलाम करता है।
हौसले दिल के थके जाते हैं,
बाल जल्दी ही पके जाते हैं;
वोट देता है, बहस करता है,
ज़ीस्त के दिन खिसके जाते हैं।

दो कविताएँ : धर्मवीर भारती

१.

मेरी वाणी
गैरिक वसना
भूल गई गोरे अंगों को
फूलों के वसनों में कसना
गैरिक वसना
मेरी वाणी

अब विरागिनी
मेरा निज दुख, मेरा निज सुख
दोनों से तटस्थ रागिनी
अब विरागिनी
मेरी वाणी
चन्दन शीतल
पीड़ा से परिशोधित स्वर में
उभरा एक नवीन धरातल
चन्दन शीतल
मेरी वाणी

भटके हुए व्यक्ति का संशय
इतिहासों का अन्धा निश्चय
ये दोनों जिसमें पा आश्रय
बन जायेंगे सार्थक समतल

ऐसे किसी अनागत पथ का
पावन माध्यम भर है मेरी
आकुल प्रतिभा, अर्पित रसना
गैरिक वसना

मेरी वाणी
जल सी निर्मल
मणि सी उज्ज्वल
नवल स्नात
हिम धवल
ऋजु
तरल
मेरी वाणी····

२. नवम्बर की दोपहर

अपने हल्के-फुल्के उड़ते स्पर्शों से मुझको छू जाती है
जार्जेट के पीले पल्ले सी यह दोपहर नवम्बर की !

आई गईं ऋतुएँ पर वर्षों से ऐसी दोपहर नहीं आई
जो क्वाँरेपन के कच्चे छल्ले सी
इस मन की अँगुली पर
कस जाये और फिर कसी ही रहे
नित प्रति बसी ही रहे—आँखों में, बातों में, गीतों में—
आलिंगन में घायल फूलों की माला सी
वक्षों के बीच कसमसी ही रहे·····

भीगे केशों में उलझे होंगे थके पंख

सोने के हंसों सी धूप यह नवम्बर की
उस आँगन में भी उतरी होगी
सीपी के ढालों पर केसर की लहरों सी
गोरे कन्धों पर फिसली होगी बिन आहट
गदराहट बन-बन ढली होगी अंगों में
आज इस वेला में
दर्द ने मुझको और दुपहर ने तुमको
तनिक और भी पका दिया
शायद यही तिल-तिलकर पकना रह जायेगा
साँझ हुए हंसों सी दुपहर पाँखें फैला
नीले कोहरे की झीलों में उड़ जायेगी
यह थी अनजान दूर गाँवों से आई हुई
रेल के किनारे की पगडण्डी
कुछ क्षण संग दौड़ दौड़
अकस्मात नीले खेतों में मुड़ जायेगी
दोपहर नवम्बर की.....

नरेश मेहता

पीले फूल कनेर के

पीले फूल कनेर के !!
पथ अँगोरते
सिन्दूरी बडरी अँखियन के
फूले फूल दुपेर के !!
दौड़ी हिरना
बन-बन अँगना—
बेंत वनों की चोर मुरलिया
समय-सँकेत सुनाये ऽ ऽ
नाम बजाये,

साँझ सकारे
कोयल तोतों के सँग हारे
ये रतनारे—
खोजे कूप, बावली झाऊ
बाट-बटोही, जमुन-कछारे
कहाँ रास के मधु पलास हैं ??
बट शाखों पर सगुन डाकते मेरे मिथुन बटेर के !!
पीले फूल कनेर के !!

पाट पट गये
कगराये तट,
सरसों घेरे खड़ी हिलाती पीत चँवरिया, सूनी पगवट !
सखि ! फागुन क्या आया वन पर हलद चढ़ गई,
मँहदी पहुए की पछुआ में
नींद सरीखी लाज उड़ गई,
कागा बोले मोर अटरिया—
इस पाहुन बेला में तूने
चौमासा क्यों किया पिया ?
क्यों किया पिया ??
यह टेसू सी नील गगन में हलद चाँदनी उग आयी (री !)
पर अभी न लौटे उस दिन गये सबेर के !!
पीले फूल कनेर के !!

दो कविताएँ : **नामवर सिंह**

१.

हरित फौव्वारों सरीखे धान
हाशिए सी विन्ध्य मालाएँ

नम्र कंधों पर झुकीं तुम प्राण,
सप्तपर्णी केश फैलाए
जोत का जल पोंछती सी छाँह
धूप में रह-रह उभर आए
स्वप्न के चिथड़े नयन-तल आह
इस तरह क्या पोंछते जाएँ ?

२.

फागुनी शाम
अँगूरी उजास
बतास में जंगली गंध का डूबना।
ऐंठती पीर में
दूर, बराह से
जंगलों के सुनसान का कूँथना।
बेघर बेपहचान
दो राहियों का
नतशीश न देखना-पूछना।
शाल की पंक्तियों वाली
निचाट सी राह में
घूमना घूमना घूमना।

प्रभाकर माचवे

विज्जा काया के दो पद

संस्कृत कवयित्री के दो पद
पढ़ कर चित्त हुआ है उन्मद
भारी हृदय, कंठ है गद्गद :

"कान्त वियोग-शोक-वारिधि में
डूबी दीन अंगना लखकर
चाहे ये नव-वारि-भार-गुरु
घन सोत्साह निनाद करें पर;
चाहे वात कदंब-रेणुमय—
बहें और नाचें मयूर पर;
तुम भी ओ बिजली ! स्त्री होकर
अकरुण इतनी? चौंध रही हो !"

विज्जाकाया के वे दो पद
पढ़कर मन होता जड़ श्वापद
बिखर-बिखर जाता ज्यों पारद :

"अस्थिर, अनेक रंगी, टेढ़ा
जिसका सिर-न-पैर हम पाते
ऐसा गुणविहीन, सतरंगा,
आसमान में इन्द्रधनुष या
धरती पर है चित्त युवति का"

क्षण में मिटता—अन्तर यह ग्यारह सदियों का !

दो कविताएँ : **प्रयागनारायण त्रिपाठी**

१. तुमने क्या समझा ?

यदि मैं कुछ भी कह न सका था,
तुमने क्या समझा कि भूल कर
क्षण भर सब कुछ, बह न सका था ?

दुलकाया न दृगों ने पानी,
तुमने क्या समझा कि वेदना
नहीं बन गई थी दीवानी ?

नहीं बढ़ी थीं मेरी बाहें,

तुमने क्या समझा कि बावली
नहीं हुई थीं मन की चाहें ?

अधरों में न हुआ था स्पंदन,
तुमने क्या समझा कि मूक थे
अमर मधुरिमा के अभिवंदन ?

तुमने गिने न श्वास हमारे,
तुमने क्या समझा कि मूक थे
धड़कन के इतिहास हमारे ?

हम चुप-चुप सब झेल रहे थे,
तुमने क्या समझा कि प्रलय के
शत-शत स्वप्न न खेल रहे थे ?

झुकी हुई थीं प्यासी आँखें,
तुमने क्या समझा कि नहीं थीं
सुषमा की विश्वासी आँखें ?

तुम चल दिए, न कुछ भी बोले,
तुमने क्या समझा कि अचानक
धधक न उठे प्राण के शोले ?

तन में नहीं भभूत रमाई,
तुमने क्या समझा कि नहीं
दर-दर पर मैंने अलख जगाई ?

तुम हो दूर दूर, मौन मन मेरा,
तुमने क्या समझा कि टूट भी
कभी जायगा सुधि का घेरा ?

२. समानान्तर लकीरें

मैं अभी तक भी न
छू पाया

तुम्हें
क्योंकि ढह पाई नहीं
अब तक
हमारे बीच की कुछ भीतियाँ
यद्यपि बड़ी झीनी
पवन-सी क्षीण

अपरिचय की एक थी
वह ढह चुकी है
कर चुकी है
दृष्टि को छू दृष्टि
परिचय खूब

पर अभी हैं और भी

जैसे कि कायरता
(कि आत्मा की अटल जो मांग
तुम बस खोजती रहतीं
उसी से माँगने की
राह)

और संशय
(यह कि पीपर-पात सा
चल है
पुरुष-मन)

और भय
("जग क्या कहेगा ?"
क्षुद्र जग !)

और शायद पाप
(क्योंकि केवल
ग्रन्थि-बन्धन-दम्भ ही है

पुण्य की ध्रुव माप
जय हो !
धन्य !!)

तो यही हो
ओ सती
तो नहीं छू पाय
तुम को
ओ अछूती पुण्य
मेरे स्पर्श का अंगार

तो सदा चलती रहो तुम
तो सदा चलते रहें ये स्वप्न
तो सदा चलता रहूँ मैं
ये समानान्तर लकीरें तीन
(शायद चार)

प्रमोद गुप्त

पथ में

राह लहरीली चले हम जा रहे उस पार
हाथ में गह हाथ, छोड़े जा रहे पथ शेष
सेतु-धनुषाकार, पत्थर-मील, बिजली-तार
हुए सब क्रमशः हमारी पहुँच के उस पार
और कितना और कितना पंथ का अवशेष
सहपथिक की दीठियों में भरा प्रश्न अशेष
बिछुड़ते वे गाछ, पत्थर-मील, बिजली-तार
सभी का है दाय हम पर, सभी का आभार

भवानीप्रसाद मिश्र

जाहिल बाने

मैं असभ्य हूँ, क्योंकि खुले-नंगे पाँवों चलता हूँ,
मैं असभ्य हूँ, क्योंकि धूल की गोदी में पलता हूँ।
मैं असभ्य हूँ, क्योंकि चीर कर धरती धान उगाता,
मैं असभ्य हूँ, क्योंकि ढोल पर बहुत ज़ोर से गाता।
मैं असभ्य हूँ, क्योंकि कात कर स्वयं बनाता कपड़े,
मैं असभ्य हूँ, क्योंकि नहीं हैं पैने मेरे जबड़े।

आप सभ्य हैं क्योंकि हवा में उड़ जाते हैं ऊपर,
आप सभ्य हैं क्योंकि आग बरसा देते हैं भू पर।
आप सभ्य हैं क्योंकि धान से भरी आपकी कोठी,
आप सभ्य हैं क्योंकि ज़ोर से पढ़ पाते हैं पोथी।
आप सभ्य हैं क्योंकि आपके कपड़े महज़ बने हैं,
आप सभ्य हैं क्योंकि आपके जबड़े खून सने हैं।

आप बड़े चिंतित हैं मेरे पिछड़ेपन के मारे,
आप चाहते हैं कि सीखता यह भी ढंग हमारे।
मैं उतारना नहीं चाहता, जाहिल अपने बाने,
धोती कुरता बहुत ज़ोर से लिपटाये हूँ याने।

मनोहर श्याम जोशी

मृत्यु

फ़ुव्वारा : फ़ुहार शांत रस की,
शीतल धार निर्मल जल की,
दुपहर ढले किया स्नान

मन भर के
धुले धूल भरे अंग सब तन के,
स्वच्छ वस्त्र पहन के
हरियाली में लेटे उतान,
स्वादों की स्मृति में खोई-खोई ज़ुबान।
किताब : आँखें आखरों से उलझतीं,
गौरैयाएँ छज्जों पर चहकतीं,
कव्वों की पलकें झपक झपकतीं।
नीलाकाश : हरे तोतों की पाँत :
धरती की प्रेरणा आत्मा को बींधती।
मंद मधुर स्वर : हवा,
गुनगुने बिछौने में छौने : फूल,
माँ की गदोलियों से लोरियाँ दुरक दुरकतीं।
सुलाई,
रुलाई,
धधकी तलुवों में गहरे कहीं कोई दबी विवाई।
अँखड़ियाँ पँखुड़ियाँ हुईं
गोद भरी आस से।
किसी अज्ञात भाव की प्रतिध्वनि आई
निवौलियों की ओट से।
मन खोया किया,
तन सोया किया,
बीज शून्य का कोई साँझ के उर में बोया किया।
भार चुप्पी का कोई भारी पलकों पर ढोया किया।
चुप हो गए आखिर आखर किताब के भी,
न बोले कुछ वे जिज्ञासु आँखों से भी।
सांध्य बेला ऐसी
देख मुझे अकेला
मृत्यु निकली झुरमुटों से : हँसी
आँखें झाँकतीं माथे पर झुक आईं लटों से।

उठी मुस्कान मेरे ओठों के प्रशांत तटों से।
हँस कर किया मैंने मृत्यु से साक्षात्कार,
हँस कर किया मैंने मृत्यु को
जीवन के अंग के स्वरूप में स्वीकार।

मार्कण्डेय

मिथ्या

तेरा रूप देता खोल—
मिथ्या बोल की हर पोल।

पर यह बोल भी आराधना है,
झूठ की भी एक अपनी साधना है।

तथ्य का वह रूप भारी झूठ है,
जो पुरातन है, निरा ही ठूठ है,

लाभ उसका आदि
मिथ्या अहं उसका अंत है,
युग युगान्तर से बनाता
आदमी को संत है :

पर तुम्हारे झूठ में है
आदमी की चाह,
उसके भाव की
मन की नयी पर्वाह,

इसलिए तू बोल!
अमृत घोल!

रघुवीरसहाय

आज फिर

आज फिर शुरू हुआ जीवन।
आज मैंने एक छोटी-सी सरल-सी कविता पढ़ी।
आज मैंने सूरज को डूबते देर तक देखा।
आज मैंने शीतल जल से जी भर स्नान किया।
आज एक छोटी-सी बच्ची आयी
किलक मेरे कन्धे चढ़ी,
आज मैंने आदि से अन्त तक
एक पूरा गान किया।
आज जीवन फिर शुरू हुआ।

पांच मुक्तक : रामबहादुर 'मुक्त'

१. गर्व का गोरू

वह गर्व का गोरू हुंकड़ता आ रहा
सर झटक, आँखें नचा, नथुने फुला
दो घुड़क, घूँसा तान, कुछ तेवर बदल
दर खूँदता बस विफरता रह जायगा॥

२. सांडों की लड़ाई

हुँकड़-हुँकड़ कर पूँछ उठाए गुँथ-गुँथ पड़ते
रेल पेल कर पीछे आगे हटते बढ़ते

खुर से पृथ्वी खूँद टेक घुटने जम भिड़ते
खूनी आँखें, फों फों नथुने, ठक ठक सींगें ॥

३. अपशकुन

सुबह स्यारिनी फिकर गई, फिर बिल्ली रोई
गिरी छिपकली, कन्धे आकर बैठा कौवा
रह रह बाईं आँख—और है भुजा फड़कती
मन में शंका पैठी डगमग थिर न आज मन ॥

४. कुरच

मेला ठेला गाड़ी बस में रेला करना गम्मज करना।
कुहनी दचका धक्के देना कन्धे उचका धक्के सहना।
क्षमा माँगना, रोब गाँठना, सब तटस्थ रह, यह शोभन है
यह जायज़ है, आती इनके पीछे से जीवन की आहट ॥

५. सफ़र

कि छूटी ट्रेन पर चढ़ना
कि सिखचे पकड़ कर चलना
कि बाहर लटक कर चलना
क्षितिज का घूम के आना
हवा का झूम के जाना
कि बालों का बिखर उड़ना
सफ़र का एक यह भी ढंग है साथी !

राजेन्द्र यादव

सिगरेट की राख

पार्टनर,
झाड़ दो ना राख
दर्शक को बड़ी मनहूस लगती है
तुम्हारी उँगलियों में दबी सिगरेट जल चुकी है
राख केवल रह गयी
पुरानी गठन के, सम्पर्क के कारण,
लेकिन
यह सुरुचि दर्शक को बड़ा बेचैन करती है।
न जाने कब पड़े गिर
मेज़, ग़ालीचे, किताबों, शैल्फ पर
जो तुम्हारे सतत साथी हैं।
कि जो कुछ जाय जल
उसको निर्मोह बन झाड़ो
ज़रा-सा हाथ हिलता है
यही बस कष्ट—(समझो तो)
सच, बड़ी मनहूस लगती है
धुएँ के साँप की कैंचुल !

राधाकृष्ण सहाय

एक इम्प्रेशन···

(बिजली के) पंखे का वृत्त
(मानो जीवन का वृत्त)

टगा—अड़ा;
छोटे स्क्रू के आधार पर।
छूटा तो गिरा
गिरा तो चकनाचूर.....
हॉस्पिटल का 'केबिन'
लोहे की पलंग
लचकदार, गद्दीदार।
टेबल पर शीशियाँ
'स्ट्रेप्टोमेसीन' के इन्जेक्शन्स
पंखे के वृत्त में
उड़ता.....उड़ता यह 'मेरा' वृत्त!

राजेन्द्रप्रसाद सिंह

मुक्ति-क्षण

कुछ ऐसा खुलकर खुलना चाह रहा मन,
इस क्षण, कि अँगूठी भी बन्धन लगती है!
लूँ इसे निकाल, छिपा लूँ कहीं बगल में,
इसलिए कि सारे बन्धन छिपा-छिपाकर
आदमी सदा अनुभूति जगाता रहता,
जिन्दगी कभी जिससे जीवित लगती है।
इस उन्मुक्त निमिष में, अन्तर नहीं अमृत औ' विष में;
जितनी मादक मुसकान मधुर लगती है,
उतनी मोहक पीड़ा लगती दिशि दिशि में;
इस उन्मुक्त निमिष में।
मेघ-भरे दिन का धूमिल मुख गीला-गीला,
रूखे-सूखे पेड़ों का मुख पीला-पीला,

धूल-भरी, भूरी बेखौफ हवा के झोंके,
कौन विकल उड़ती, गाने की धुन को रोके····
(तुझे, ओ बेवफा ! हम जिन्दगी का आसरा समझे।
बड़े नादान थे हम, हाय ! समझे भी तो क्या समझे ?)
बहुत भारी, भरे इस आसमाँ के बहुत नीचे, बहुत हल्की हवा में
उलझती साँस की घन-जालियों से कढ़ी आती हृदय में तान तीखी,
किसी की धड़कनों के गीत की थिरकन-सरीखी—
कहीं मानस-क्षितिज के पार की अमराइयों से,
नहीं जो ठीक से अब तक कभी उस पार दीखी।
बहुत निर्बन्ध होना चाहता मन,
किसीको फिर दिलाने को यकीं गहराइयों का,
छिपाये है जिसे अब तक प्रतीक्षा का पठार,
कि होगा तो कभी साकार खुद विश्वास का आधार।
आँसू औ' हँसी के अर्थ से कुछ दूर होकर चुप
पुलकना चाहता मन,
बन्धनों के पार थमना चाहता मन।
आज, इस क्षण, आज खुलना चाहता मन।

विद्यावती 'कोकिल'

गीत

जग तुझको पहचान सकेगा ?
मिट्टी को सोना कर तूने, इस तन में सब तीर्थ बसाये।
नयनों की गंगा-जमुना में कर क्या कोई स्नान सकेगा।
जग तुझको पहचान सकेगा ?
शोर मचाने वाले ही तो यहाँ क्रान्तिकारी कहलाते,
मौन क्रान्ति की दूती तेरा कौन सँदेसा जान सकेगा।
जग तुझको पहचान सकेगा ?

जिसका सृजन युद्ध से शापित और सभ्यता भीति-प्रशासित।
देख कहाँ विद्रोहिनि तेरे आँसू का निर्माण सकेगा।
जग तुझको पहचान सकेगा?
जिसका चिंतन यश से कुंठित, जिसकी गति वैभव पर लुंठित,
केवल अमृत सेवी तेरा देख कहाँ विष-पान सकेगा।
जग तुझको पहचान सकेगा?
जिसका अन्तर जप से गोठिल, जिसके आँसू तप से बोझिल।
तेरी सृजनवती पीड़ा का कर कैसे अनुमान सकेगा।
जग तुझको पहचान सकेगा?

विष्णु स्वरूप

पंक का सौन्दर्य

पंक का सौन्दर्य पंकज,
पंक से विच्छिन्न हो,
कब तक जियेगा?
रूप उसका—निखरता प्रतिपल—
ठिठक-सा जायगा,
और क्रमशः ह्रास के पथ पर बढ़ेगा;
सुरभि उसकी—
मुक्त कर संकुचित कर लेगी
अन्ततः जो रिक्त होंगे;
मीत मधुपायी न गीत सुनायेगा;
सूर्य किरनों की सजी सँवरी नवेली बालिकाएं
दूधिया मुस्कान होंठों पर सजाए
शबनमी माला नहीं पहनाएँगी
प्यार को उसके नहीं दुलरायेंगी;
अठखेलियाँ मस्ती-भरी जल की हिलोरों की

न रास रचायेंगी।
प्यास जीवन की तड़प थक कर कहीं सो जायगी।
और तब कोई भला मानुस,
कसकती टीस पर हँस
देवता के लिये 'डाली' में उसे चुन
मान देगा;
मूक, गलता
कसमसाहट से भरा अस्तित्व उसका
रो उठेगा
स्नेह ममतामयी पंक समेट लेगी अंक में फिर,
धैर्य से उसकी प्रवास कथा सुनेगी
उमड़ते वात्सल्य का आशीष—
नयी आभा, नये सौरभ, नयी जीवन-शक्ति का
वरदान देगा
उमग आयेगा नया पंकज—
पंक का सौन्दर्य।

तीन कविताएँ : **श्याममोहन श्रीवास्तव**

१. परिवर्तन

ये हाथ
जिनमें रहते थे
फूल,
अब इनमें श्वेत काँटे हैं····
जैसे बबूल !
माथे की चिन्ता की रेखाएँ
जो कभी थीं
पानी की लकीर

बनती जा रही हैं
पत्थर की लकीर !

२. संकल्प

बुझ न जाएँ
प्राणों की समिधाएँ
जीवन की
कुरुठाएँ
होम करूँगा !

दुर्बल मन की
द्विविधाओं से
पापों की
प्रेतात्माओं से
लोहा लूँगा !

पात-फूल से हीन
ढाक की
लम्बी, नंगी डालों-सी
बाहें
फैला कर
चिक जाने से प्रथम
मरण की गोद
वरूँगा !

३. अकेला हूँ...

अकेला हूँ किन्तु यह भी जानता हूँ
यह अकेलापन बहुत ही शक्तिशाली है

तोड़ तम की शिलाएँ ले ज्योतिधारा
पूर्व-पथ से निकलता नित अंशुमाली है !
मानता हूँ स्वप्न रहते अधूरे भी
कल्पना की सृष्टि उन्मद क्षणों में बन कर
किन्तु फिर विश्वास का आधार क्या है ?
उस अमर विश्वास का, निर्माण का जो वर ?
नदी है यह मत्त यौवन की प्रवाहित
राह में जो अड़ें बाधाएँ बहाने दो !
धार है यह प्रबल दुर्दम दौड़ती जो
टूट कर कठिनाइयों को बिखर जाने दो !
अकेला ही चल पड़ेगा सूर्य का यह रथ
ज्योति की यह धार सिरजेगी तिमिर में पथ !

शांति एम० ए०

मुझसे चाहे प्रेम करो या न करो

मुझसे चाहे प्रेम करो
या न करो
प्रेम भरे शब्द ही
सदैव सुनाते रहो !
क्योंकि दो-चार क्षण
शब्दों के जादू में
कितना भला है प्रिय
कुछ खो-सा जाना !
मेरे लिए मकरंद भरे
फूलों के गजरे
कभी तुम न लाना
दुखद है अभागों का

कुम्हला जाना
कागज की माला
है ज़्यादा टिकाऊ
वही तुम मुझे दो !
रोज़-रोज़, बार-बार
प्रेम और तकरार
की नुमाइश से
तो भला हो ये
कि क्षण दो चार
कुछ मीठा मीठा बोल दो
क्योंकि उन क्षणों का
करने में इंतज़ार
मेरी ज़िन्दगी के दिन
कटते जाएंगे
एक सुखद स्वप्न से !

दो कविताएं : शम्भूनाथ सिंह

१.

टेर रही प्रिया तुम कहाँ ?

किसकी यह छाह और किसके ये गीत रे ?
बरगद की छाँह और चैता के गीत रे !
सिहर रहा जिया, तुम कहा ?

किसके ये काँटे हैं, किसके ये पात रे ?
बेरी के काँटे हैं, केले के पात रे !
बिहर रहा हिया, तुम कहाँ ?

कौनसे टिकोरे ये, किसके ये फूल रे ?
आम के टिकोरे ये, महुए के फूल रे !
विरम गए पिया तुम कहाँ ?

किसकी ये आँखें हैं, किसकी यह रात रे ?
बिरहिन की आँखें हैं, मावस की रात रे !
बुझता यह दिया, तुम कहाँ ?
टेर रही प्रिया तुम कहाँ ?

२.

बजता है ढोल कहीं; पूजा के बोल !
नवमी का चाँद बुझा
हवा उठी जाग;
तैरता अँधेरे पर
मिला-जुला राग !
गीत की हिलोरों पर रात रही डोल !

नीम का हिंडोला औ'
मालिन का द्वार,
एक बूँद की प्यासी
माँ रही पुकार !
यह पुकार नींद के किवाड़ रही खोल !

बाहर की साँय-साँय,
भीतर की ऊब !
हलके पदचाप रहे
डिमडिम में डूब !
मन में सगबगा उठे सपने अनबोल !

गान लगा जी, जैसे
बीन-ठगा साप,

उठता-गिरता स्वर की
लहरों पर काँप !
पाल खुली, नाव बही सुधि की अनमोल !
बजता है ढोल कहीं; पूजा के बोल !

तीन कविताएँ : शमशेरबहादुर सिंह

१.

यह मिठास । यह तरलता । हास ।
यह भरे संकेत में उल्लास ।
मैं यहाँ क्यों हूँ सरल छल से घिरा ?
प्यास में यह तृप्ति-जैसी प्यास !

२.

आज का नहीं दिन
ठीक;
कल जाना,
मीत ।
—यह भी पथ है;
तुम भी पथमय;
पन्थी की लय
पथ-मय ।

३.

बँधा होता भी
मौन यदि

उस व्यथा के रूप से कोमल
जो कि तुम हो
समय पा लेता
उसे तब भी।

चार मुक्तक : श्रीहरि

१.

प्राणों पर ज्वालागिरि, पलकों पर सिन्धु लदा,
सिर चकराता छाती पर सौ मन पत्थर है,
मत इन्हें हटाओ, रहने दो, मैं कहता हूँ
हलका होने से भारी होना बेहतर है।

२.

यह रक्त चूसती धरा, शीश पर लदा व्योम,
तू क्यों जीवन को व्यर्थ समझ कर रोता है?
हर नई पीर, हर नई टीस, हर नई कसक
हर नई चीख का भी कुछ मतलब होता है।

३.

मन शिथिल छटपटाता, दम टूटा सा लगता,
तन का पीलापन भी काफी बढ़ जाता है,
इतनी ऐंठन, उत्पीड़न, थकन, घुटन, फिर भी—
मुख पर सपनों का रंग नया चढ़ जाता है।

४.

अम्बर आशंकित उत्कण्ठित होता रहता,
आतुर जगती भी नहीं चैन से सोती है,
कुछ ऐसा ही महसूस धरा को होता है,
जब नई ज़िन्दगी आने वाली होती है।

दो कविताएँ : **सत्येन्द्रनाथ श्रीवास्तव**

१. प्रगति

बढ़ रही जो भीड़ पथ के प्रस्तरों को तोड़
बाँध देगा क्या उन्हें परछाइयों का मोड़
जो लिए युग-कालिमा का हाथ में फंदा
रोकते, हर साँस उनसे आज लेगी होड़।

२. आत्म कथ्य

दर्द मुझमें भी, छिपाए जल रहा पर, टीस
जानकर तुम क्या करोगे मैं पड़ूँगा बीस
एक ही है राह साथी, फ़र्क़ बस इतना
तुम गड़ाये आँख नीचे, मैं उठाये शीश।

तीन कविताएँ : **सर्वेश्वरदयाल सक्सेना**

१. खाली समय में

बैठकर ब्लेड से नाखून काटें,
बढ़ी हुई दाढ़ी में बालों के बीच की

ख़ाली जगह छाँटें,
सर खुजलाएँ, जम्हुआएँ,
कभी धूप में आएँ,
कभी छाँह में जाएँ,
इधर-उधर लेटें,
हाथ पैर फैलाएँ,
करवटें बदलें
दाएँ बाएँ,
ख़ाली कागज़ पर क़लम से
भोंड़ी नाक, गोल आँख, टेढ़ मुँह
की तस्वीरें खींचें,
बार-बार आँख खोलें
बार-बार मीचें,
खाँसें, खखारें
थोड़ा-बहुत गुनगुनाएँ,
भोंड़ी आवाज़ मे
अख़बार की खबरें गाएँ,
तरह तरह की आवाज़
गले से निकालें,
अपनी हथेली की रेखाएँ
देखें-भालें,
गालियाँ दे देकर मक्खियाँ उड़ाएँ,
आँगन के कौओं को भाषण पिलाएँ,
कुत्ते के पिल्ले से हाल-चाल पूँछें,
चित्रों में लड़कियों की बनाएँ मूँछें,
धूप पर राय दें, हवा की वकालत करें,
दुमड़ दुमड़ तकिए की जो कहिए हालत करें,

ख़ाली समय में भी बहुत-सा काम है
किस्मत में भला कहाँ लिखा आराम है।

२. लिपटा रज़ाई में

लिपटा रज़ाई में
मोटे तकिए पर धर कविता की कापी,
ठंडक से अकड़ी उँगलियों से कलम पकड़
मैंने इस जीवन की गली-गली नापी,
हाथ कुछ लगा नहीं,
कोई भी भाव कम्बख़्त पर जगा नहीं,
मुझसे अच्छी तुम हो
सूप उठा तुमने सब चावल फटक डाले,
मुझसे अच्छा यह है
डब्बा फाड़ जिसने सब बिस्कुट गटक डाले,
सूप की फटर-फटर
'अम्मा पापा' की रट,
मुझसे कहती है
जीवन ले कविता से हट,
थैला उठाओ, जाओ—
तरकारी लाओ,
आफ़िस का समय हो गया है,
नहाओ, खाओ,
यह सब लिखना-पढ़ना कल्पना विलास है,
चीख़-चीख़ कहता यह मेरा आस-पास है,
लेकिन मैं इस पर भी कलम लिए बैठा हूँ
कवि हूँ, अपनी कविताई पर ऐंठा हूँ।

३. तुम कहो

तुम—
जिसके बालों में बनावटी 'कर्ल्स' नहीं हैं,
जिसकी आँखों में न गहरी चटक शोख़ी है;

थर्मामीटर के पारे सी
चुपचाप जिसमें भावनाएँ चढ़ती उतरती हैं;
अखंड कीर्तन की
थकी हुई अस्पष्ट धुन सी
जिसकी ज़िन्दगी है;
समझ में न आने वाली,
अटपटी भाषा के किसी लोक गीत के
मधुर चढ़ाव उतार सा,
जिसका हर काम है;
अपने सपनों की सुई तले
किसी रेकार्ड सी
जो स्वयं घूमती है गाती है;
जिसकी जवानी,
खुद जिसके लिए क्लोरोफार्म का
एक मीठा नींद-भरा हल्का झोंका है;
अँधेरे में—
उदास क्यारियों से झाँकते हुए
अपने दर्द के फूलों के लिए—
जो दूर के किसी वातायन की
ख़ामोश हरी रोशनी है;
आपरेशन थियेटर सी
जो हर काम करते हुए भी चुप है;
भारी पीले फूल सी
जो डाल पर झुक गई है;
जिसकी आँखें ऊपर टिकती हैं
और निगाहें नीचे गिर जाती हैं;
प्यार का नाम लेते ही
बिजली के स्टोव-सी
जो एकदम सुर्ख़ हो जाती है;
अस्पताल में,

दवा की शीशियों की जाती हुई 'ट्रे' की
प्रतिक्षण क्षीण होते हुए भी
एक गति में बँधी खनखनाहट सी,
जिसकी आवाज़ दूर तक सुनाई देती है—
जिसे सुनकर हर दर्द कम होने लगता है
और जिसे सदा सुनते रहने का
जी चाहता है;
जिसके वक्ष पर,
मस्जिद के गुम्बदों पर सोती हुई शाम के बीच—
दूर की टूटती हुई अजान सी—
जवानी के थके हुए काफ़िलों के
रुकने का संकेत है;
जो मोमदीप के समीप
खुली हुई बाइबल सी
उन सबको बुलाती है
जिनके दिलों में दर्द है
और आँखों में आँसू हैं;
तुम—जो सब हो,
तुम—जो सहन शक्ति हो,
तुम—जिसमें अपार शांति है
निर्विकार शांति है,
तुम—जो मुझमें हो,
'तुम'—जो 'मैं' हूँ
कहो—
बस एक बार
मेरे साथ मिलकर कहो—
'सहन-शक्ति ही जीवन है'
'सहो'
'सहो'।

सुरतदास श्रीवास्तव

छोटी-छोटी चीज़ें

सूरज-चाँद-सितारे जब तैयार हो गए
महासागरों में पानी भर गया, पर्वतों के शिखरों पर
बरफ़ मढ़ी जा चुकी; धरा के मानचित्र पर
महाद्वीप-उपमहाद्वीप औ' नगर-उपनगर
जब अंकित हो चुके,
और जब
इन सब के स्वामी शासक अभिभावक
गर्वीले अभिमानी मानव की
रचना भी ख़त्म हुई
तब
ईश्वर थक कर बैठ गया
औ' लगा सोचने—

अब भी कुछ रह गया, सृष्टि यह
ठीक नहीं बन पड़ी; कदाचित
ये महानताएँ, विशालताएँ सब की सब
बहुत अधिक गम्भीर हो उठी हैं, इसमें तो
हो सकता है
मेरे बेटे बहुत अहंकारी बन बैठें
और भ्रष्टमति
अपना सब विवेक खो बैठें,
नहीं ठीक यह नहीं, सृष्टि है अभी अधूरी ···

और यही सोचते अनमने ईश्वर ने फिर
हाथों में मिट्टी ली; यों ही अनजाने में
निपुण अंगुलियाँ

गढ़ने लगीं अजीब खिलौने—
जीभ निकाले झबरे कुत्ते,
बदन चाटती पूसी बिल्ली,
चिचियाते शैतानी चूहे,
बदतमीज़ बातूनी मेंढ़क
खिखियाते शरारती बंदर
फुदक रहे नटखट गौरैये
मक्खी, मकड़ी, मच्छर, चींटे
और न जाने क्या-क्या कितने
इल्ले-गिल्ले बागड़-बिल्ले
ईश्वर ने रच डाले मन में हँसते-हँसते
'लो हज़रत इन्सान
तुम्हारे होश
हमेशा
अब तो ठीक रहेंगे
खीझो
झींको खिसियाओ लो चाहे जितना अपनी
इन छोटी-छोटी बेबसियों पर, जो तुमको
यहाँ तुच्छता का महत्व है—समझाएँगी।'[१]

हंसकुमार तिवारी

निरर्थक

सुना अनसुना रहा गूँजकर भी जीवन-संगीत।
अनचीन्हा चल दिया द्वार तक आकर मन का मीत।
एक बूँद शबनम की पथ पर छिटकी हुई पड़ी है
आकर किरण कहीं से कोई ठिठकी पास खड़ी है

१. एक अँग्रेज़ी कविता के आधार पर।

हँसी-रुदन की आकुलता में जिसकी मौन कड़ी है
लौट गया आकर कानों तक वह अनजाना गीत।

वह जो दूर गगन के कोने जगता रहा सितारा
दीये की लौ से जाने क्या करता गया इशारा
तब से तड़पी लहर धार में, दुखता रहा किनारा
जलकर पिघल गयी प्राणों में अनपहचानी प्रीत।

स्वप्न लिये आँखों में चुपचुप उतरा अगम अँधेरा
बंध विमुक्त विहग ने तिनकों का ज्यों लिया बसेरा
साँस कली की लुटा जोत पर जगमग जगा सवेरा
आयी फिर खो गयी स्वप्न-सी अनदेखी परतीत।

हार थकी तब से फिर उसको बाँध न पाती वाणी
उमड़ सूखती गयी नैन में परछाईं को पानी
बुद्धि खड़ी उपहास कर रही हृदय बड़ा अज्ञानी
किन्तु रह गया निरा निरुत्तर क्षण जो हुआ अतीत।

हवा पोंछ ले गयी धूल पर से पदचिह्न अदेखा
उगी अमिट अगउगी रही पन्नों पर लेकिन रेखा
वे आँखें वे कंठ कहाँ जो हो यह धन्य अलेखा
विधि का एक काव्य युग-युग को अपठित रहा अगीत।

हरिमोहन

नये साल पर

नया साल आ गया
खेतों में फसलों की बालियाँ
जवान होने लगीं
नदियों की बाढ़ उतर गई
मछुवाहे नावों पर पाल ताने
नीली सुनहली लहरों पर

वंशी से पालों में स्वर भरते चले जा रहे हैं।
बगीचे के हर फूल पर मोती
हर कली पर उभार और मुस्कान है।
किरणें हल्की-फुलकी और सुनहली हो उठीं
रात गरमाहट की माँग से बढ़ने लगी,
कोठों में धान भरे—
अलाव के आसपास बैठे
किसानों के किस्सों में लपटें हैं,
और शहर के कुहरे में बिजली की रंगीनी।

इस नये साल के स्वागत में
ओ दुनिया के बच्चों और बूढ़ो,
माँ और बहनो,
आओ,
और रूमाल हिला-हिला कर
मुसकरा मुसकरा
अपने बच्चों और उन भाइयों को
जो समुद्र की उत्ताल तरंगों पर
हिलते डुलते
उन बड़े-बड़े जहाजों के डेक पर
सीना उभारे, बन्दूकें लिए खड़े हैं
जिनके पीछे भारी-भारी मार की तोपें हैं।
ओ दुनिया के बाप और भाइयो,
माँ और बहनो,
तुम हाथ उठा उठा कर
उन जवान अजीज़ों को
जो तुम्हारे सर पर मँडराते विमानों में
पैराशूट कसे, पीठ पर रेडियो रिसीवर बाँधे
तुम्हें दूरबीन चश्मे से देख रहे हैं;
और ओ सुन्दरियो और प्रेमिकाओ,

तुम तालियाँ बजा-बजा कर
खुश हो हो कर
उन प्रेमियों और दिलदारों को
जिनके कालर में तुम्हारा लाल गुलाब खुँसा है
जिनके पाकेट में तुम्हारा प्रेमोपहार उमँग रहा है
जो तुम्हारे चुम्बनों का प्राणों पर मेहराब लगाये
दीप्त, उन्नत और गर्वस्फीत दृगों से
तुम्हारे आगे से
लेफ्ट राइट लेफ्ट राइट लेफ्ट····
करते हुए
विजय यात्रा के लिए प्रयाण कर रहे हैं,
उन्हें
ओ तमाम दुनिया के मर्द और औरतो,
प्रेमिकाओ और सुन्दरियो,
पुत्रो और बच्चियो,
उन्हें
अपने पापा को, प्रेमी को, पति को, पुत्रों
और भाइयों को
बधाई दो, विदाई दो
जोकि—
थकी मानवता के नये शत्रुओं का मर्दन करने
शान्ति की दुनिया बसाने
अपने बड़े बड़े विस्फोटक
अस्त्र शस्त्रों से सुसज्जित होकर
तैर रहे हैं, उड़ रहे हैं जा रहे हैं,
तुम उन्हें इस नये साल पर
खूब हँस हँस कर, दिल खोल खोल कर
बधाई दो, विदाई दो कि उनकी यात्रा
शुभ हो, मंगलमय और विजयदायिनी हो।

ओ बाप और दादो !
ओ माँ और बहनो !
ओ पत्नियो और प्रेमिकाओ !
देखो !
तुम्हारे जवान बेटे और पोते
तुम्हारे दिलेर भाई और पति
तुम्हारे शेर-दिल प्रेमी
दुश्मन के देश में घुस गये।
उनके गरजते, मँडराते और घराते हुए
विमानों ने हाई एक्सप्लोज़िव्स गिराए
चारों तरफ आग लग गई है
नागरिक और नागरिकाएँ
इधर-उधर भाग रहे हैं
भय से चिल्ला रहे हैं
गोद के बच्चे घिघिया रहे हैं
सब पर एक बदहवासी का आलम छा गया
हर इन्सान पागल की तरह
घबराई भेड़ों के झुण्ड की तरह
दावाग्नि में घिरे जंगली जानवरों की तरह
हक का पियासा, और बौखलाया सा
भाग रहा, छिप रहा और दौड़ रहा है
न उनका आज कोई
भाई, न बीवी, न बहन, न बच्चा
न दोस्त है
वे सब अपने
अकेले और बिलकुल अकेले हैं
देखो
तुम्हारे विमान उड़ते जा रहे हैं
उनकी दमों से लगातार
बमों की बाढ़ गिर रही है

शहर का वाटर वर्क्स, पावर हाउस
ऊँचे ऊँचे मिलों की चिमनियाँ
कारखाने आफिस
मन्दिर मस्जिद गिर्जाघर
आलीशान इमारतें
वर्षों के बसाये एक क्षण में
सब के सब
नष्ट हो गये, ध्वस्त हो गए।
सड़क पर दौड़ती हुई भीड़ टुकड़े टुकड़े हो गई
क्लास में बैठे बच्चों के सिर पर
छत की शहतीरें टूट टूट कर गिर पड़ीं
वे हलवा हो गये
और मिलों में काम करते मजदूर कबाब।
पहले हमले का यह जोर
देखा तुमने
हँसता खिलता शहर बियाबान बन गया
छलकती कूदती खुशियाँ मुर्दा हो गईं।
शहर के हसीन और खिलते
ताजे और चहकते चमन पर
कब्रगाह की खामोशी का कफ़न फैला कर
तुम्हारे अजेय विमान लौट रहे हैं।
अब सारी भारी तोपों से लदे
घड़-घड़ाते आग उगलते
टैंकों की आवाजें आ रही हैं।
अँधेरे में उल्का की तरह
छूटते गोलों
और टीन की छत पर तड़कते ओलों
की तरह गोलियाँ छोड़ते
चमक और कड़क लिये
ये टैंक बढ़े आ रहे हैं।

जिस तरह आँधी में चर्रा कर
गिरता हुआ पेड़ झोपड़ी को
विशालकाय अजगर गौरैये के बच्चे को
धसकती दीवाल गलियों के मुसाफिर को
और समुद्र की फुफकारती लहरें
डूबते जहाज को दबोच लेती हैं
उसी तरह तुम्हारे ये बड़े बड़े टैंक
मकानों और मलबों को
झुलसी झौंसी फसलों को
खेत खलिहानों को
दबोचते रौंदते सपाट बनाते
बढ़े चले आ रहे हैं।

तुम्हारे ये दुर्भेदय टैंक
बढ़ते ही चले आ रहे हैं
और लो,
दुश्मन ने सफेद झण्डा दिखा दिया।
ओ तमाम दुनिया के बड़े और बूढ़ो,
दार्शनिको और विचारको,
साहित्यिको और कलाकारो,
वैज्ञानिको और राजनीतिज्ञो,
तुम्हारे नौनिहालों ने कमाल किया है।
ओ माँ और बहनो,
प्रेमिकाओ और पत्नियो,
बच्चो और बच्चियो, देखो !
तुम्हारे छोटे और युवक
पुत्र और भाई
प्रेमी और पति
पिता और ताऊ विजय की खुशी में
गा रहे हैं, नाच रहे हैं,

उछल और कूद रहे हैं।
आज वह सारा विजित प्रदेश उनका है,
वे उसके राजा और मालिक हैं
वहाँ की जमीन, वहाँ का आकाश
वहाँ की नदियाँ, वहाँ के पहाड़
वहाँ के आदमी, वहाँ की औरतें
सब उनके हैं
वे सब के स्वामी हैं।

ये विजय में पागल तुम्हारे अज़ीज़
कतार की कतार
किस शान से बढ़े जा रहे हैं
उनके भारी भारी बूट
सड़क पर, कूड़े पर, मलवे पर
कटी फटी लाशों के सीनों पर
फैली खोपड़ी की हड्डियाँ तोड़ते
चर्रमर्र चर्रमर्र
विजय की प्रगल्भता का उद्घोष करते
इस तरह बढ़ रहे हैं
जैसे जंगल की सूखी पत्तियों, टहनियों पर
—शेर।

ओ बड़े और बूढ़ो
तुम्हारे अज़ीज़ों और बच्चों ने
टूटे गिर्जाघर के कोने में
शान्ति के लिए प्रार्थना करते
भूरी दाढ़ी, करुण नयनों वाले पादरी को
एक बुलट से सदा के लिए शान्त कर दिया।
भागते हुए बेगुनाह असहायों को
उनकी मशीन गन ने

चिर विश्राम की शरण दे दी।
ओ माताओ! आओ और निहारो
तुम्हारे लाड़लों ने यह नहीं देखा था कि
पेट में बच्चा कैसा होता है,
अतः पानी के लिए कराहती उस गर्भिणी
के पेट में
संगीन डाल दी
मल्ल मल्ल खून फेंकता
एक मास का लोथड़ा
सड़क की नाली में लुढ़क गया।
ओ बहनो
भय से डरी
पैरों पड़ती उस कुमारी को
तुम्हारे भाइयों ने
खींच खींच कर नंगी किया
उसकी छाती को
जिस्म के हर चमड़े को ताना
खींचा खोला और देखा
वह चीखती रही, वे चूमते रहे
वह तड़पती रही, वे उमँगते रहे
वह रोती रही, वे हँसते रहे
और फिर!
एक नहीं अनेक ने
उसके दर्द का मज़ा लिया
और फिर
एक छोटी सी पिस्टल ने
उसकी बड़ी सी व्यथा हर ली।
ओ पत्नियो
तुम्हारे पतियों ने
पति के मूर्च्छित शरीर पर

धाड़ मार कर रोती उस औरत को देख कर
ठहाके मारे
सीटियाँ बजाई
इशारे किये
अपने अंगों को दिखाया
चमकाया, मटकाया
उसने ढेला मारा
और तब
तुम्हारे दिलेर पतियों की
तेजधार किरचें
उसके सब अंगों में घुस गईं।
ओ बच्चो और बच्चियो
जिन्हें देखकर तुम हँसते
उछल कर जिनकी गरदन में
हाथ डाल कर झूलते
जो तुम्हारे गालों पर मिठियाँ देते
तुम्हें कन्धों पर चढ़ा कर नाचते रहे
तुम्हारे उन पापा और ताऊ को देखकर
वे मासूम गुलाबी गालों वाली
सुनहरे बालों वाली
मासूम बच्चियाँ न जाने क्यों चिल्ला पड़ीं
जिनकी गोद में चिपक कर तुम सोते रहे
जिनके स्नेहसिक्त हाथ तुम्हारे सर को
बालों को, गालों को सहला कर
तुम्हारा डर दूर करते रहे
न जाने क्यों
उन्हें देख कर
मोम के गुड्डों की तरह मुलायम चिकने चिकने
शीशे की नीली गोलियों सी
पुतलियों वाले

माँ बाप से बिछुड़े
सिसकियाँ भरते उन अबोधों के आँसू
यकायक सूख गये
और वे साँप को देखकर चिड़ियों की तरह
चिचिया उठे, घिघिया उठे।
तुम्हारे पापा और ताऊ ने
उन रेशम के गुच्छों को
चाँद के चेहरों को
कलेजे के टुकड़ों को
अपने भद्दे कठोर काले बूटों से
ठोकर मार मार कर
हाथों में उठा
पटक पटक कर चुप कराया।

ओ प्रेमिकाओ और सुन्दरियो
तुम्हारे प्रेमियों और दिलदारों ने
हर औरत को प्यार किया
हर औरत को चिपकाया
और हर हर को गोली से उड़ा दिया।
ओ तमाम दुनिया के बूढ़ो और बच्चो
माओं और बहनो
प्रेमिकाओ और सुन्दरियो
तुम आओ और एक साथ
कूद कूद कर उछल उछल कर
अपने हाथों को फेंक कर उछाल कर
विजय के लिए प्रयाण करने वाले
इन सेनानियों को
इस नये साल पर बधाई दो, विदाई दो
नई-नई फसलें जवान हो रही हैं
नदियों के कगार वंशी के स्वर से

भर उठे हैं
किरणों की नांरगी धूप रसमसा उठी है
हर तरफ खुशी का एक पागलपन छा रहा है
और जब किरात गरमाहट की माँग से
बढ़ रही है, वे उठें
और अपने भारी भारी संघातक अस्त्र-
शस्त्रों से लैस हो
शान्ति के लिए प्रयाण करें।

गिरिजाकुमार माथुर

सव्यारव्या

पिछले दस वर्षों में नयी कविता कितनी ही शैलियों के रूप धरकर हमारे सामने आई है और भविष्य में उसका विकसित रूप कैसा होगा यह आज के नये और ताजे बीजों से स्पष्ट होने लगा है। नयी कविता की भागीरथी ऊबड़-खाबड़ चट्टानों पर से हरहराकर बहती हुई चली आ रही है।

मौजूदा कविता के अन्तर्गत वह दोनों ही प्रकार की कविताएँ कही जाती रही हैं जिनमें एक ओर या तो शैली, शिल्प और माध्यमों के प्रयोग होते रहे हैं या दूसरी ओर समाजोन्मुखता पर बल दिया जाता रहा है। लेकिन नयी कविता हम उसे मानते हैं जिसमें इन दोनों के स्वस्थ तत्वों का संतुलन और समन्वय है। यह नयी कविता नये शिल्प और उपमानों के प्रयोग के साथ समाजोन्मुखता और मानवता को एक साथ अंजलि में भरे भविष्य की ओर अग्रसर हो रही है। उसकी नजर अतीत की श्यामलता और वर्तमान के संघर्ष से आगे भविष्य पर टिकी है। जीवन की संघर्षजन्य कटुता के बीच भारतीय आदर्शानुसार उसकी आशा की लौ निष्कम्प है क्योंकि उसे विश्वास है कि आज चाहे जो स्थिति हो मानवता का भविष्य कल्याणमय है और वह हर अमंगल शक्ति पर निश्चित रूप से विजय प्राप्त करेगी। इसीलिए नयी कविता पलायन, पस्ती और पराजय की कविता नहीं हो सकती।

प्रस्तुत दोनों कविताओं का यही 'एप्रोच' है। उनमें शिल्प और विषय-वस्तु का जो प्रयोग है वह इसी समन्वय के आधार पर उठा है। और यदि कुछ नहीं तो कम-से-कम 'भविष्य' की ओर इशारा तो ज़रूर ही है।

देह की आवाज़

मन ने शरीर से पूछा
क्यों है इतना आकर्षण
रसमय चुम्बकमय कसी देह का
चिकने मांसल तन का
उस नोकीली रंगीन नज़र का
लालच चन्द्रानन का
भोले ओंठों के आस-पास
वह एक गुलाब-सा मंडल
वह खिला आयु का लाल कमल
क्यों इस वीनस से तन का
तुझको आकर्षण
इस देह-लता में
हैं सारे भौतिक दुर्गुण
वह हाड़-चाम की पुतली
मलिन अपावन
फिर क्यों तुझको मनभावन
पशुओं-जैसे सब काम
देह करती है
घिन भरी जन्मती,
जीती है, मरती है
इस देह-मोह से सब
अशान्ति फैली है
ऊपर से उजली
भीतर से मैली है
तन का आकर्षण
है पशु का आकर्षण
तू पशुता से ऊपर उठकर
मानव बन

है बुद्धि, ज्ञान ज़्यादा तुझ में
पशुओं से
इसलिए नेह तू लगा
ज्ञान छवियों से
तू मुड़ आत्मा की ओर
देख छवि उसकी
जिस गुण से होती है पहचान
मनुज की
अब तक जो चुप थी देह
ज़रा मुसकाई
अनगिन बसंत की
रंग-गन्ध उठ आई
ऐसी मुसकान कि जैसे
चाँदान छाई
रितु-बीज छू गई
भावमयी चिकनाई
ज्यों शून्य गगन सहसा धरती बन जाए
बे-शक्ल हवा रसवती कली हो जाए
मधु ध्यान प्रिया का स्वयं प्रिया बन जाए
तस्वीर फ्रेम से उतरे चलकर आए
बादल की छाँह
खेत बन जैसे उमड़े
खुद फ़सल उठे
नभ घटा बने औ' घुमड़े
ज्यों धुन्ध याद का
महासिन्धु बन ठहरे
गिरि बने त्याग
करुणा गंगा बन लहरे
कोरी, नीरस, निर्गन्ध बात पर मन की
इस तरह उठी मुसकान सलौने तन की।

उत्तर में फिर आवाज़ देह की बोली
सब रचना, कला-सृष्टि की सिहरी, डोली
जीवन-मिठास प्याले भर हो लहराई
स्वर, शब्द, रेख की हार गई चतुराई
भूमी चिर कुँवरि अनादि प्रकृति मद भीनी
विस्तार पा गई छवियों की रंगीनी
हो गई वनस्पति सुमनवती अलबेली
धरती सिहरी ज्यों उरजों छुई नवेली

नक्षत्र खिले
चाँदनी नई मुसकाई
फिर वक्ष-मिलन
चुम्बन की वेला आई
उन मुग्ध वधू
रितुओं के गीत रँगीले
बन कला-मूर्ति,
फूलों पर चले सजीले

काँपीं टूटीं स्वर सप्तक की प्राचीरें
भू नभ तक झंकारों की पड़ीं लकीरें
बोली यों देह, सुधा संसृति में भरती
मिट्टी की देह कि ज्यों मिट्टी की धरती।

वह राग-रूप
साकार गंध कस्तूरी
वह स्वयंप्रभा
हो गौर, श्याम या भूरी

मिट्टी ज्यों कली, फूल, फल, फसल खिलाती
यह देह-शिखा देहों के दीप जलाती

मिट्टी का बुझा दीप
धरती कहलाती
पड़ती है जब तक नहीं
देह की बाती

वे बुद्धि, ज्ञान, आत्मा की सभी अदितियाँ
हैं देह-तेज की ज्योतित भावाकृतियाँ
खिलता है देह-बीज से पंकज मन का
सूरज से उठता जैसे बिम्ब किरन का
हैं देह भोग-हित सृष्टि मधुमती के वर
लालिम चरणों में बिछी प्रकृति की केसर
यह नील-श्याम मानव जगती है मनहर
तन-रचना में मानव-तन सबसे सुन्दर
क्यों सीमित हो धड़कन तन की, प्राणों की
है सीमा कहाँ प्रकृति के वरदानों की
तन का विदेह द्युति-मंडल है मानवता
जो सीमित करे प्रकाश वही दानवता

इसलिए न बुझते
मनुज अग्नि के मोती
जिनसे गलकर
जग की नवरचना होती
उन तत्वों पर
यह देह विजय पाती है
इतिहास फसल
जिनसे मुरझा जाती है
है नहीं देह-तृष्णा
अशांति का कारण
जीवन-पियास जब
हुई न अभी निवारण

इसलिए अरे ओ मन विदेह !····
ओ एक देह के खंड-बिम्ब !
तू उस विराट् उजियाले में
दे मिला किरनमय निजता
जिस पथ पर चलती जाती नयी मनुजता !

तेतीसवीं वर्षगाँठ

उम्र की इस सौ-खनी मीनार पर
मंज़िलें मैंने तिहाई पार कीं
ज़िन्दगी को खींचकर लाते हुए
राह की सौगात सारी वार दी
और भी ऊँची चढ़ाई सामने
और भी भारी लड़ाई सामने
यह भयानक खोखली मीनार है
शक्ति देता सिर्फ तेरा प्यार है
साँस लेने में रुकूँ, तुम प्यार दो
मन, नयन, तन, अधर की रस-धार दो
शक्ति दो मुझको, सलोनी ! प्यार से
लड़ सकूँ मैं जुल्म के संसार से
बाँह गोरी मनुजता की ध्वज बने
छाप तेरे अधर की सूरज बने
फिर नई इंसानियत की ढाल दो
फिर नयन मेरे नयन में डाल दो
लाल आँचल से पसीना पोंछ दो
बाल पतली उँगलियों से ओंछ दो
उम्र की सारी थकान उतार दो
देह पर हथियार नये सँवार दो
क्योंकि दुनिया पर खिंची तलवार है
दैन्य, दुःख, अन्याय, अत्याचार है
आदमी पर आदमी का वार है,
विश्व-नैतिकता पतन के द्वार है।
आज दुनिया के करोड़ों आदमी,
सह रहे हैं धूप, सरदी, औ' नमी,
ज़िन्दगी का एक भी साधन नहीं,
उम्र तपती धूप है, सावन नहीं,

जन्म-दिन की क्या खुशी होगी उन्हें,
ज़िन्दगी है मृत्यु से भारी जिन्हें,
भूख, बीमारी, गरीबी, गंदगी,
कौड़ियों के मोल बिकती ज़िन्दगी,
आदमी का मिट गया सम्मान है
मनुजता का अब न गरिमा-गान है
वह नहीं इंसान की है सभ्यता,
स्वार्थ, लालच, युद्ध जिसके देवता
मूलधन हिंसा, गुलामी सूद है
आदमी बन्दूक की बारूद है
जब जगत् को चाहिये फुलवारियाँ
हो रहीं तब युद्ध की तैयारियाँ
फिर धरा सीता सताई जा रही
फिर असुर-संस्कृति जमाई जा रही
मिट रही रंगीन जीवन की छटा
छा रही हिंसक मशीनी घन घटा
आज जीवन को चुनौती मौत की
नीति क़ैदी है कुटिल कलधौत की।
है ग़नीमत हम न सड़कों पर गिरे
भूख रोगों से नहीं अब तक मरे
है यही क्या कम कि औसत उम्र से
ज़िन्दगी के दस बरस ज़्यादा हुए!
विश्व में जब कुटिलता है, त्रास है
सत्य-शिव का तब हमें विश्वास है
और है विश्वास जन-कल्याण का
रंग, रस का, त्याग का बलिदान का
फिर कटीली दृष्टि रंजित प्यार दो
आदमी की शक्ति का आधार दो
प्यार तुमसे हो जगत् से प्यार हो
प्रेरणा यह रंगमय संसार हो।

अनुवाद

मराठी : बी० एस० मर्ढेकर | प्रस्तुतकर्ता : प्रभाकर माचवे

अन्धेरी दुनिया की यही है रीति
कज्जल की ज्योति कालिमा को
काली हवा में से काला ही विमान
करे उड़ीयन अन्धेर में
नहीं है सिग्नल हरे या कि लाल
कैसी दिशाभूल अदृश्य में
जहाँ जाता हूँ मैं मैं ही मेरे साथ
आँखें बनीं भींत योंही यहाँ

बंगाली : जीवनानन्द दास | प्रस्तुतकर्ता : नेमिचन्द्र जैन

मैं अगर होता

मैं अगर होता वनहंस कहीं
और तुम वनहंसी;

किसी दिगन्त की नदी के किनारे,
धान के हरे-भरे खेतों के समीप,
बेत के झुरमुटों मे छिपे
निर्जन एकान्त किसी नीड़ मे।

तो फिर आज इस फागुन की रात में
झाऊ की डालियों के पीछे से
उगते हुए चाँद को
देखकर
हम दोनों
धरती को
नीची इस धरती की गंध को छोड़
आसमान की रुपहली फसल में बह जाते, खो जाते,
होते फिर डैनों में तुम्हारे
मेरे ये पंख,
और मेरे पंखों में रक्त का स्पंदन
तुम्हारे हृदय का;
नीले आकाश के खेत में अनगिनती तारे सब
दीखते सुनहले फूलों से,
और यह फागुन का चाँद—
यह भी तब लगता
शिरीष के वन में
किसी हरे-भरे घोंसले में रक्खे
सुनहले किसी अंडे-सा।

शायद कहीं से किसी गोली की आवाज़
और फिर हमारा वह तिर्यक् गतिस्रोत
पंखों में पिस्टन का उल्लास
कंठों में हमारे वह
उत्तरी हवा का विक्षिप्त संगीत—।

शायद फिर एक बार गोली की आवाज़;
और तब हमारी वह स्तब्धता,
हमारी वह शांति।
और तब आज के जीवन की
तिलतिल कर मौत यह
नहीं होती
नहीं होती आज के जीवन की टूटी हुई साधों की व्यर्थता
अंधकार।

मैं अगर होता वनहंस कहीं
और तुम वनहंसी
किसी दिगंत की नदी के किनारे
धान के हरे-भरे खेतों के समीप।

पंजाबी : अमृता प्रीतम | प्रस्तुतकर्ता : देवेन्द्र सत्यार्थी

रात—
आधी इधर,
आधी उधर,
गैसों के प्रकाश में
पता नहीं किस छत के नीचे
तुम बाट जोह रहे होगे,
एक-एक घूँट से,
एक-एक नोट से,
एक-एक परी के चेहरे की!
तुम – हाँ, तुम—तुम,
ओ मेरे होने वाले बच्चे के बाप!

रात—
आधी इधर,
आधी उधर,
और दीये की लौ में बैठी,
तुम्हारे बाप-दादा की छत के नीचे
मैं बाट जोह रही हूँ
तुम्हारे लड़खड़ाते पैरों की,
कुरते के गले पर
बदमूरत-सी, गन्दी-सी,
शराब की राल
खाली-सी जेब से,
लाल-लाल आँखों से,
नंगी-सी गालियों की !
मैं—हाँ, मैं—मैं,
तुम्हारे होने वाले बच्चे की माँ !

किंचित् कविता

केशवचन्द्र वर्मा

हूँ ऽ ऽ ऽ ऽ ऽ ऊँ ऽ ऽ ऽ । ठीक है; लेकिन भई,
अब तो चीज़ कुछ लिखो नई !
इसमें भला क्या बात बनी ?
तुकों की आपने जुटाई है अनी !
अरे मियाँ, चेतना को उढ़ाओ लिहाफ़
इस पर टेकनीक की चढ़ाओ गिलाफ़ ।
वही उषा अरुणा, वही चन्द्रयामा
इसमें कहीं भी न ब्रैकेट, न कामा !!
इसके तो माने भी हैं बिलकुल साफ़ !!!
कविता को बनाइए हज़रत जिराफ़ !
लोगों की पहुँच से इसे करो बाहर
ऊँची काव्यकोपलें तभी तो सकोगे चर !
कविता को गद्य करो, गाओ ।
भोंडी आवाज़ में पढ़ कर सुनाओ ।
चौंकाओ, रूँध कर माने भिड़ाओ
श्रोता का शून्यवत् मुँह खुलाओ !

ऐसा कर पाओ तो लिखो लिखाओ,
भेजो, छपाओ। नहीं तो जाओ—

जाड़े की एक सुबह में चारों तरफ कोहरे से लिपटा हुआ चार बजे के आसपास, चाँदतारा बीड़ी और कैंची सिगरेट के धुएँ से आक्रांत, प्रयाग स्टेशन से छूटनेवाला रेलगाड़ी का ऐसा डिब्बा जिसकी खिडकियों पर शीशा और झिलमिलो चढ़ी हुई है।[1]

डिब्बे की हर सवारी साबुत होल्डॉल सी पड़ी हुई
किसी के मुँह पर यह विरोध करने की हिम्मत नहीं
कि—'डिब्बे में 'जघा' नहीं, बगल में जाओ!'

तीन पंवितयाँ : **भारतभूषण अग्रवाल**

न लेना नाम भी तुम अब इलम का
लिखो बस गीत हुक्के का, चिलम का
अभी खुल जायगा रस्ता फिलम का

इच्छा : **सत्य प्रियमित्र**

अगर कहीं मैं तोता होता!
तो क्या होता?
तो क्या होता,

१. कविता वापस लौटाते हुए नये सम्पादक का कवि का एक नोट।
२. शीर्षक बड़ा हो जाने के लिए मार्फी चाहता हू।

तोता होता !
(आह्लाद से झूमकर)
तो तो तो तो ता ता ता ता
(निश्चय के स्वर में)
होता होता होता होता !

हवा चली : मेघराज इन्द्र

हवा चली ।
छिपकली की टाँग
मकड़ी के जाले में फँसी रही—फँसी रही ।
पतंगों की सड़ी-सड़ी दुर्गन्ध
छिले भुने कपेरू से बिजली के बल्ब के चारों ओर
भन-भन कर गूँज उठी ।
भूँज उठी भाड़ में चने जैसी
अपनी बोली के बोल
पीत प्लास्टिक की चोंच खोल,
ताड़ की फुनगी पर बैठी हुई
एक अंडे बच्चों वाली चील-चिल्होर ।
सोचने लगा मैं—याने कि कवि,
मैं भी कुछ गाऊँ ?
पर क्या गाऊँ ?
कौनसी नई उपमा, नये चित्र, नये भाव पंछी के पर
नोच-नोच कर चबा जाऊँ ?
···सचमुच बड़ी चिंता थी ।
हैरान हो रहा था मैं—याने कि कवि;
मेरे हीन ताप को देख कर उदय हो गया साला रवि ।
इनफ़ीरियारिटी कॉम्प्लेक्स समा गया नस-नस में ।
तभी—

पेड़ फूल पत्तों से सजे कंपनी बाग की लाल सड़क पर,
कुंतल कमनीय केशों वाली
कंचन सी कामिनी की पीठ पर कारबंकिल फोड़े-सी
दीख पड़ी
शहर की गंदगी का टोकरा उठा कर ले जाती हुई मेहतरानी।
गमक उठा मेरा कवि
चमक उठी मेहतरानी
भमक उठी उसकी लचकती कमर की टोकरी से
एक उपमा।
वाटिका सड़ उठी,
चिड़ियाँ उड़ गईं,
कुत्ता दुम दबाकर भागा।
किन्तु—
अचंभे के बच्चे-सा चौकाने वाला साहित्य देने की लालसा लिए
मेरा कवि डटा रहा—सँटा रहा।
दुनिया नाराज़ हुई, बोली,
"अरे कवि, करता है क्या ?
ऐसी कवितायें लिख जिसे सब समझ सकें।
पुलक उठें तेरी कविताओं से हमारे प्राण
महक उठे मनहर सुगंध से जन मनकी फुलवारी।"
बोला मैं—खबरदार, मुझसे मत कहना कुछ !
मैं कवि हूँ—
स्टेनलेस स्टील के बर्तन जैसा कीमती, चमकदार, सदाबहार,
जिसमें कि हर केमिकल—
हर आब, शराब, तेज़ाब, पेशाब या कि गुलाब
अपना प्रयोग कर उड़ जाता है,
बर्तन को बेअसर छोड़ कर।
मैं भी वैसे ही करता हूँ प्रयोग
बेमतलब, बे प्रयास, बिना ध्यान ध्येय के;
और बहलाता हूँ अपनी आम की सूखी गुठली-सी

अहंता प्रेयसी को।
स्टेनलेस स्टील का बर्तन जैसे अपने से अलिप्त है—
क्योंकि कर्ता कोई और है—
वैसे ही
मुझे भी कुछ मतलब नहीं
अपने से, अक्ल से, जनता से, कविता से।
यह तो काँशस, सब-काँशस के चित्र
अंकित अन-काँशस मन करता है मेरा।
चाहे वे चित्र इत्र में शराब सने मोम जिस्म से बने,
चाहे चर्च क्वायर बच्चों की मिक्सचर की शीशियाँ
ढक्कन खोलकर मोटर का 'घर् घर्' करे;
चाहे रेडियो में बजा करे ठुमरी।
मैं तो बस, उन्हें देख-देख कर
सरगम के ग़लत रीड-सा बोल उठता हूँ
क्यां, क्यां—
और फिर झटपट
अपनी उस 'क्यां क्यां' को
कविता के नाम से पुकार उठता हूँ मैं।
क्योंकि
आजकल ऐसी ही है हवा चली—
वह, जो कि जम कर और कुछ नहीं कर सकता,
कम से कम
बदनाम तो कर ही सकता है।
प्रयोगशील कविता के नाम को।[1]

१. सुकवि बन्धु नरेश मेहता की इसी शीर्षक वाली प्रयोगशील कविता से चौंकी हुई प्रेरणा लेकर।

यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधी : राजेन्द्र माथुर

सावन कैसा मनभावन
बोले श्री धावन
श्रीमती से।
हाँ राजन् ! हाँ साजन !
श्रीमती धावन
बोलीं पती से।
खुल गए युगल बतीसे !

इन्द्र जिमि रती से
बैरा ज्यों लती से
दूब से ज्यों सावन
रावन ज्यों सती से,
अस बोले श्री धावन
अपनी श्रीमती से :
रात में ये बरसा !
लगता है डर-सा !

हाँ राजन् ! हाँ साजन !
बोलीं पती-पावन
मिसेज़ धावन
अपने पती से।
कब होगा घर घर-सा ?
'बेड' जाये कुछ भर-सा ?
मुस्कराई लुभावन
श्रीमती धावन !

पती किसी खबती-से
नर सा
हरसा !

आपकी तारीफ़ ?

ऑल राइट ! ओ के !
हम उठे सो के !
ज़िन्दगियाँ धोके
की लकीर हैं
हम—मियाँ,
उस लकीर के फ़कीर हैं !
तीर हैं : वापस नहीं आते !
बाप की खाते,
नैना लड़ाते,
जिए जाते ।
कल की किसे पर्वा ?
कौन सर्वेसर्वा ?

ब्रह्ममुहूर्त

भोर का तारक प्रायः लुप्ता
समस्त मोहल्ला सुप्ता
उठीं चौबाइन
निकसीं नाइन
शुरू हो गई गाली-गुप्ता !